उत्तराध्ययन व धम्मपद पर आधारित प्रवचनमाला

परमसुख का पथ

आचार्य महाश्रमण

धम्मपद और उत्तराध्ययन

परमसुख का पथ

आचार्य महाश्रमण

जैन विश्व भारती प्रकाशन, लाडनूं

संपादक : साध्वी सुमतिप्रभा

प्रकाशक : जैन विश्व भारती
पोस्ट : लाडनूं–341306
जिला : नागौर (राज.)
फोन नं. : (01581) 226080, 224671
ई–मेल : jainvishvabharati@yahoo.com

© जैन विश्व भारती, लाडनूं

Books are available online at
http://books.jvbharati.org

द्वितीय संस्करण : जुलाई 2016
तृतीय संस्करण : जुलाई 2016

मूल्य : 80/-(अस्सी रुपये मात्र)

मुद्रक : पायोराईट प्रिण्ट मीडिया प्रा. लि., उदयपुर

प्रवचन करना मेरा प्रायः प्रतिदिन का कार्य है। पिछले कुछ वर्षों में मैंने विभिन्न धर्मग्रन्थों को आधार बनाकर प्रवचन किए। बौद्ध ग्रन्थ धम्मपद और उत्तराध्ययन पर भी मैंने शताधिक व्याख्यान दिए। साध्वी सुमतिप्रभा ने उस व्याख्यानमाला के कुछ वक्तव्यों को निबन्धों का आकार दिया। पिछले कुछ वर्षों से वह मेरे वक्तव्यों के संपादन और निबन्धीकरण कार्य में निष्ठा के साथ संलग्न है।

प्रस्तुत पुस्तक धम्मपद में विश्वास रखने वाले और उत्तराध्ययन में आस्था रखने वाले तथा अन्य जिज्ञासुओं के लिए उपयोगी बन सकेगी। शुभाशंसा।

आचार्य महाश्रमण

अनुक्रम

१. मार से करें युद्ध	७
२. चित्त सम्यक् प्रणिधानयुक्त बने	१०
३. देह द्वारा देही का कल्याण	१५
४. कामभोग के पुष्पों को न चुनें	१९
५. आवश्यकता की पूर्ति कैसे हो?	२३
६. चेतना की निर्मलता	२५
७. कथनी-करनी में समानता	२९
८. सब दिशाओं में सुगन्ध : सज्जनों की	३४
९. उत्तम सुगन्ध : सदाचार	३८
१०. शीलवान की सुगन्ध : स्वर्ग तक	४२
११. पथ में पाथेय	४६
१२. एकला चलो रे	४९
१३. दुःख का मूल : राग-द्वेष	५४
१४. निन्दा और प्रशंसा में सम रहें	५७
१५. गहराई में निर्मलता	५९
१६. मुख आत्मा की ओर	६४
१७. संसार से पार पाएं	६८
१८. परिष्करणीय में परिष्कार करें	७३
१९. देव-दर्शन की इच्छा न करें	७७
२०. पृथ्वी के समान सहिष्णु बनें	७९
२१. शांति में संतता का दर्शन	८३

२२. जीवन में अप्रमत्तता का विकास हो ८७
२३. पापों से बचें ९२
२४. पाप से घड़ा भर न जाए ९४
२५. परमसुखी कौन? ९९
२६. परमसुख का पथ : निर्वाण १०२
२७. संगति का फल १०६
२८. असली सारथी कौन? ११०
२९. निर्मल कैसे बनें? ११४

१

मार से करें युद्ध

बौद्ध साहित्य के महान् ग्रन्थ धम्मपद में जीवन को एक उपमा से उपमित करते हुए कहा गया है–

कुम्भूपमं कायमिमं विदित्वा नगरूपमं चित्तमिदं ठपेत्वा।
योधेथ मारं पञ्ञायुधेन जितं च रक्खे अनिवेसनो सिया।।३/८।।

इस शरीर को घड़े के समान (अनित्य) जान, इस चित्त को नगर के समान (रक्षित और दृढ़) ठहरा, प्रज्ञा रूपी हथियार से मार से युद्ध करे। जीत लेने पर अपनी रक्षा करे आसक्ति रहित हो।

यह शरीर घड़े के समान है। चित्त या आत्मा एक रक्षित नगर के समान है। घड़ा अशाश्वत होता है। क्योंकि वह निर्मित किया जाता है। आत्मा बनाई नहीं जाती, इसलिए वह शाश्वत है। शरीर का निर्माण होता है। इसलिए शरीर अनित्य है। जैसे घड़ा अनित्य है कभी फूट जाता है, वैसे ही हमारा शरीर भी अनित्य है, कभी छूट जाता है। व्यक्ति अस्थायी पर ध्यान देता है, परन्तु स्थायी को भी भूले नहीं। व्यक्ति जब अस्थायी में ज्यादा आसक्त हो जाता है तब स्थायी को भूल जाता है। धम्मपदकार ने युद्ध करने की बात कही है। पर प्रश्न होता है कि युद्ध किससे करे? किसके साथ करे और कैसे करे? वहीं समाधान दिया गया कि प्रज्ञा के द्वारा मार के साथ युद्ध करो। मार शब्द के अनेक अर्थ किए जा सकते हैं, जैसे काम, आसक्ति और मृत्यु। मृत्यु से मुक्त होने के लिए पहले आसक्ति से मुक्त होना होगा।

श्रीमद्भगवद्गीता में प्रज्ञा और ज्ञान शब्द का प्रयोग अनेक जगह हुआ

है। ज्ञान को अनेक उपमाओं से उपमित किया गया है। प्रज्ञा और ज्ञान के साथ अनासक्ति का योग है तो वह ज्ञान भी महत्त्वपूर्ण है। परन्तु ज्ञान के साथ मोह जुड़ जाने से वह ज्ञान भी बहुत भला नहीं कर सकता।

मैं शिक्षा जगत पर ध्यान देता हूं तो मुझे लगता है शिक्षा का विकास हुआ है। जगह-जगह विद्यालय बने हुए हैं। मुझे लगा सरकार भी शिक्षा के प्रति जागरूक है। मैं बुद्धि और ज्ञान का बड़ा सम्मान करता हूं। आदमी में बुद्धि का विकास होना चाहिए। परन्तु बुद्धि के साथ भाव शुद्धि का योग भी होना चाहिए। केवल बुद्धि है, परन्तु भाव शुद्ध नहीं है तो बुद्धि आदमी से गलत काम भी करा सकती है। व्यक्ति बुद्धि के द्वारा बहुत अच्छे काम भी कर सकता है और गलत काम भी कर सकता है। दूसरे का नुकसान भी कर सकता है और भला भी कर सकता है।

गीता में कहा गया—जिसमें योग-साधना नहीं है, उसमें बुद्धि का विकास भी नहीं होगा और जिसमें योग-साधना नहीं हैं, उसमें भावना का विकास भी नहीं हो सकता। जिस आदमी में शुद्ध भावना का विकास नहीं होता, उसे शांति नहीं मिल सकती। उपाध्याय विनयविजयजी ने शांतसुधारस भावना में कहा—'स्फुरति चेतसि भावनया विना, न विदुषामपि शांतसुधारसः' अर्थात् भावना के बिना विद्वानों के चित्त में भी शांति का संचार नहीं होता। क्योंकि विद्वत्ता और शांति का कारण अलग-अलग है। यदि जैन तत्त्व-मीमांसा के आधार पर बताया जाए तो आठ कर्म माने गए हैं। विद्वत्ता का संबंध है ज्ञानावरणीय कर्म के योग से और शांति का संबंध है मोहनीय कर्म के क्षयोपशम से। कम पढ़ा-लिखा आदमी भी शांति में रह सकता है और बहुत पढ़ा-लिखा आदमी भी अशांति में रह सकता है।

एक बार एक वैज्ञानिक ने आत्महत्या कर ली। कारण खोजने पर पता लगा कि उस वैज्ञानिक की पदोन्नति होने की संभावना थी, किन्तु उसका प्रमोशन न होकर किसी दूसरे का हो गया। उस आघात को वह सहन नहीं कर सका और उसने आत्महत्या कर ली। वैज्ञानिक और बौद्धिक होने पर भी आत्महत्या करने का कारण बना मोहनीय कर्म का उदय। विद्वत्ता होने पर भी चित्त अशांत हो गया और आदमी ने आत्महत्या कर ली। शांति के बिना

आदमी को सुख नहीं मिलता। सुख और शांति में कुछ अंतर किया जा सकता है। सुख प्रायः शरीर सापेक्ष होता है और शांति प्रायः आत्म सापेक्ष होती है।

व्यक्ति गर्मी से राहत पाने के लिए एयरकंडीशन में रहता है। उसे भौतिक सुविधा मिल सकती है, परन्तु मानसिक शांति नहीं। एक साधक गर्मी में बैठने के बावजूद भी शांति में रह सकता है और एक आदमी एयरकंडीशन में रहने पर भी उसके दिमाग में तनाव हो सकता है, चित्त में अशांति हो सकती है। सुविधा अलग चीज है और भीतरी आनंद अलग चीज है। साधना की निष्पत्ति यह आनी चाहिए कि आदमी को सुविधा मिले अथवा न मिले, परन्तु उसे भीतर की शांति प्राप्त होनी चाहिए।

जैसे धम्मपदकार ने शरीर को घड़े की उपमा दी, वैसे ही उत्तराध्ययनकार ने शरीर को नौका बताते हुए कहा—

सरीरमाहु नाव त्ति, जीवो वुच्चइ नाविओ।
संसारो अण्णवो वुत्तो, जं तरंति महेसिणो।।२३/७३।।

शरीर को नौका, जीव को नाविक और संसार को समुद्र कहा गया है। महान् मोक्ष की एषणा करने वाले इसे तैर जाते हैं।

एक शर्त है—नौका निश्छिद्र होनी चाहिए। सछिद्र नौका व्यक्ति को डुबाने वाली होती है और निश्छिद्र नौका पार लगाने वाली होती है। क्रोध अहंकार, माया, लोभ, द्वेष आदि भाव बार-बार आ रहे हों तो समझना चाहिए हमारी नौका में छेद हो रहे हैं और नौका डुबाने वाली बन सकती है। जो भाव शुद्धि और कषाय मुक्ति की साधना करते हैं, वैराग्य की आराधना करते हैं, उनकी नौका निश्छिद्र होती है।

व्यक्ति अभ्यास के द्वारा सछिद्र नौका को निश्छिद्र बनाने का प्रयास करे, जिससे मानव जीवन सफल हो सके।

२

चित्त सम्यक् प्रणिधानयुक्त बने

बौद्ध धर्म के महान् ग्रन्थ धम्मपद में कहा गया है–

दिसो दिसं यन्तं कयिरा वेरी वा पन वेरिनं।
मिच्छापणिहितं चित्तं पापियो नं ततो करे।।३/१०।।

जितनी हानि शत्रु शत्रु की या वैरी वैरी की करता है, उससे अधिक बुराई झूठे मार्ग पर लगा हुआ चित्त करता है।

एक दुश्मन जितना दुश्मन का नुकसान करता है, उससे ज्यादा नुकसान अपना मिथ्या चित्त करता है। मिथ्या मार्ग पर गतिमान चित्त अथवा पापकारी प्रवृत्तियों में संलग्न चित्त इतना बड़ा नुकसान कर सकता है, जितना बड़ा नुकसान कोई शत्रु नहीं कर सकता। क्योंकि दुष्प्रवृत्ति में लगा हुआ चित्त पापकर्मों का अर्जन करता है और उन पापकर्मों के कारण चित्त मलिन बन जाता है। जब चित्त मलिन होता है तब शांति में भी बाधा उत्पन्न हो सकती है। उन पापकर्मों का जब उदय होता है तो प्राणी को कितना कष्ट उठाना पड़ता है। इसलिए वास्तव में हमारा कोई शत्रु है तो हमारी आत्मा ही है और हमारा मित्र है तो भी हमारी आत्मा ही है। धम्मपद में ही आगे कहा गया–

न त माता पिता कयिरा अञ्ञे वापि च ञातका।
सम्मापणिहितं चित्तं सेय्यसो न ततो करे।।३/११।।

जितनी भलाई माता-पिता या दूसरे भाई-बन्धु नहीं कर सकते हैं, उससे अधिक भलाई ठीक मार्ग पर लगा हुआ चित्त करता है।

जितना हित हमारी शुद्ध आत्मा कर सकती है या सम्यक् प्रणिहित चित्त

कर सकता है, उतना हित हमारे माता-पिता आदि कोई भी प्रिय व्यक्ति नहीं कर सकता। उत्तराध्ययन सूत्र में भी ऐसी ही बात प्राप्त होती है–

न तं अरी कंठछेत्ता करेइ, जं से करे अप्पणिया दुरप्पा।
से नाहिई मच्चुमुहं तु पत्ते, पच्छाणुतावेण दयाविहूणो।।२०/४८।।

अपनी दुष्प्रवृत्ति जो अनर्थ उत्पन्न करती है वह अनर्थ गला काटने वाला शत्रु भी नहीं करता। वह दुष्प्रवृत्ति करने वाला दयाविहीन मनुष्य मृत्यु के मुख में पहुंचने के समय पश्चात्ताप के साथ इस तथ्य को जान पाएगा।

एक कंठ-छेद करने वाला दुश्मन भी उतना नुकसान नहीं करता, जितना नुकसान दुष्प्रवृत्ति में लगी हुई स्वयं की आत्मा कर देती है। जो दुष्प्रवृत्ति में लगा हुआ है, वह मृत्यु के समय पश्चात्ताप करता है कि मैंने जीवनभर पाप ही पाप किए हैं, अब मेरा क्या होगा? उत्तराध्ययन सूत्र में यह भी कहा गया–

अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली।
अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे नंदणं वणं।।२०/३६।।

मेरी आत्मा ही वैतरणी नदी है और आत्मा ही कूट शाल्मली वृक्ष है। आत्मा ही कामदुधा धेनु है और आत्मा की नन्दन वन है।

वैतरणी नदी और कूट शाल्मली वृक्ष दोनों नरक में हैं और दोनों ही कष्टप्रद हैं। कामधेनु और नन्दन वन स्वर्ग में हैं और दोनों ही सुखप्रद हैं अर्थात् सुख-दुःख की कर्ता मूलतः हमारी आत्मा स्वयं है। इसलिए मनुष्य को इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि मेरा चित्त सम्यक् प्रणिहित रहे। शुभ योगों में लगा रहे, पाप कार्यों में प्रवृत्त न बने। एक साधक का यह धर्म है कि वह स्वयं अपनी साधना करे और संभव हो तो दूसरों को भी सम्यक् रास्ते पर लाने का अथवा सम्यक् रास्ता बताने का प्रयास करे।

साधु-संन्यासी सत्संग या प्रवचन, व्याख्यान आदि करते हैं, उनका उद्देश्य भी जनता को सत्पथ में लाने का ही होता है अथवा होना चाहिए। आचार्य उमास्वाति ने तो तत्त्वार्थ सूत्र में यहां तक कह दिया–तुम श्रम की परवाह न करके उपदेश दो। उपदेश देने वाला अपने पर भी अनुग्रह करता है और दूसरों का भी भला करता है। इसलिए हितोपदेश देना चाहिए। हितोपदेश

से जनता को सन्मार्ग पर लाया जा सकता है। उससे कितनों को सम्यक् ज्ञान प्राप्त हो सकता है और चित्त सम्यक् प्रणिहित हो सकता है। जिसका चित्त सम्यक् प्रणिहित हो गया, इसका मतलब है वह विषय-भोगों से हटकर आत्मा में लग गया है। राजस्थानी में सुन्दर कहा गया—

जेतो मन हराम में, ते तो हर मैं होई।
चल्यो जाय बैकुंठ में, पल्लो न पकड़ै कोई।।

हरामी यानी मिथ्या प्रणिधान में जो चित्त लगा हुआ है, वह हरि (भगवान) में या सम्यक् प्रवृत्ति में लग जाता है तो बैकुंठ (स्वर्ग/मोक्ष) में जा सकता है। आदमी का चित्त समीचीन बना रहे, ऐसा प्रयास करना चाहिए। चित्त सम्यक् प्रणिधान वाला है तो आदमी की प्रवृत्तियां अच्छी होती हैं, कषायों की मंदता होती है। कषायों की मन्दता से क्षमाशीलता, नम्रता आदि गुण भी उजागर होते हैं। गृहस्थों में भी कई व्यक्ति सम्यक् प्रणिधान से युक्त चित्त वाले होते हैं। फ्रांस के चतुर्थ सम्राट हेनरी चतुर्थ राजमार्ग पर जा रहे थे। कोई भिखारी मिला। उसने हैट उतारकर सम्राट का सम्मान किया। पार्श्व स्थित बॉडीगार्ड ने कहा—महाशय! आप तो फ्रांस के मालिक हैं। एक सामान्य भिखारी के सामने टोप उतार कर उसका सम्मान करना कहां तक उचित है?

सम्राट हेनरी—एक भिखारी जब इतनी विनम्रता कर सकता है तो क्या मैं भिखारी से भी गया गुजरा हूं।

चित्त सम्यक् प्रणिधान वाला है तो समता का भाव भी पुष्ट हो सकता है। फिर चाहे कोई कुछ भी कहे, प्रशंसा करे या निन्दा करे, चित्त में राग-द्वेष का भाव आना बंद हो जाएगा या मंद हो जाएगा।

किसी संत के पास एक युवक आया।

उसने कहा—संतप्रवर! मुक्ति का मार्ग कौनसा है?

संत—वह मैं बाद में बताऊंगा। पहले तुम एक काम करो। यहां पास में कब्रिस्तान है। वहां जाओ और कब्रों को खूब गालियां देकर आओ।

युवक वहां गया और गालियां देकर लौट गया।

संत—एक बार फिर वहीं जाओ और कब्रों की खूब प्रशंसा करके आओ।

युवक गया और प्रशंसा करके भी लौट आया।

संत—तुमने कब्रों को गालियां दीं तो क्या उन्होंने वापिस तुम्हें कुछ कहा? क्या उन्होंने गुस्सा किया?

युवक—उन्होंने तो कुछ नहीं कहा, न गुस्सा किया।

संत—तुमने जब प्रशंसा की तो क्या उन्होंने तुमको साधुवाद दिया?

युवक—नहीं, उन्होंने कुछ भी नहीं कहा।

संत—समता में रहना ही मुक्ति का पथ है। कोई गालियां दें तो द्वेष नहीं करना और कोई प्रशंसा करे तो राग नहीं करना।

यद्यपि यह एक घटना है, परन्तु मैं साथ में यह भी जोड़ना चाहूंगा कि कब्रों को गालियां देने का अपराध भी नहीं करना चाहिए। कोई दिव्य आत्मा आक्रुष्ट हो जाए तो नुकसान भी हो सकता है। यह एक तथ्य है कि कब्रें नहीं बोलतीं, परन्तु कब्रों पर भी, श्मशान में भी किसी की आशातना कभी नहीं करनी चाहिए। जैनदर्शन में तो यहां तक कहा गया कि एक चींटी की भी आशातना नहीं करनी चाहिए। इतना ही नहीं, निर्जीव पदार्थ की भी आशातना नहीं करनी चाहिए।

आगम साहित्य में चार शब्द आते हैं—प्राण, भूत, जीव और सत्त्व। वैसे तो ये एकार्थक लगते हैं, किन्तु इनमें भी थोड़ा-थोड़ा अन्तर किया गया है। 'प्राणाः द्वित्रिचतुः प्रोक्ताः' अर्थात् द्वीन्द्रिय, त्रिन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों को प्राण कहा गया है। 'भूतास्तु तरवः स्मृताः' अर्थात् वनस्पतिकाय के जीवों को भूत कहा गया है। 'जीवाः पंचेन्द्रिया ज्ञेया' अर्थात् पंचेन्द्रिय प्राणी जीव कहलाते हैं। 'शेषाः सत्त्वा उदीरिता' अर्थात् पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय और वायुकाय के जीवों को सत्त्व कहा गया है। इन प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों की भी किसी प्रकार की आशातना नहीं करनी चाहिए। प्राणी मात्र के प्रति अनाशातना का भाव होना चाहिए। इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि सभी प्राणियों के प्रति मन में अनुकम्पा का भाव होना चाहिए। छोटे से छोटे प्राणी के प्रति और बड़े से बड़े प्राणी के प्रति मन में सहानुभूति या दया का भाव होना चाहिए। मन में दया, सहानुभूति या पवित्र अहिंसा का भाव है तो फिर

आशातना से भी बचा जा सकता है। जिस चित्त में दया है, अनुकम्पा है तो मानना चाहिए धम्मपद के अनुसार वह सम्यक् प्रणिधान चित्त वाला है। जहां निरनुकम्पता है, निष्ठुरता है तो मानना चाहिए कि वह चित्त मिथ्या प्रणिधान वाला है। आदमी का चित्त सम्यक् प्रणिधान वाला बना रहे। एक साधु मूर्च्छा में है, आसक्ति में है, इसका मतलब है उसका चित्त मिथ्या प्रणिधान में है। साधु अमोह भाव में है, अमूर्च्छा भाव में है तो मानना चाहिए कि वह सम्यक् प्रणिधान चित्त वाला है। आदमी सम्यक् प्रणिधान वाले चित्त का निर्माण करने का यथोचित रूप में प्रयास करता रहे।

३

देह द्वारा देही का कल्याण

बौद्ध साहित्य के महान् ग्रन्थ धम्मपद में कहा गया है–

फेणूपमं कायमिमं विदित्वा मरीचिधम्मं अभिसम्बुधानौ।
छेत्वान मारस्स पपुप्फकानि अदस्सनं मच्चुराजस्स गच्छे।।४/३।।

इस शरीर को फेन के समान तथा (मृग) मरीचिका के समान (असार) जान, मार के फन्दे को तोड़कर यमराज की दृष्टि से परे हो जाए।

मनुष्य का जीवन फेन के समान है, मृग मरीचिका के समान है। मृग को लगता है आगे पानी है, किन्तु आगे बढ़ने पर पानी नहीं मिलता। पानी को पाने के लिए वह कितना श्रम करता है। आदमी भी सोचता है कि जीवन में खूब भोग भोगें ताकि जीवन आनंद व मस्ती में बीत सके। किन्तु वास्तव में देखा जाए तो ये सब असार हैं। तब क्या करना चाहिए? ग्रन्थकार ने उपदेश देते हुए कहा कि तुम मार के फन्दे को छेद डालो। कामना के फन्दों को छेद डालो ताकि तुम यमराज की दृष्टि से दूर हो जाओगे अर्थात् तुम मृत्यु के क्रम से निकल जाओगे, कभी अमरत्व को प्राप्त हो जाओगे।

उत्तराध्ययन में कहा गया है–

कुसग्गे जह ओसबिंदुए थोवं चिट्ठइ लंबमाणए।
एवं मणुयाण जीवियं समयं गोयम मा पमायए।।१०/२।।

कुश की नोक पर लटकते हुए ओस-बिन्दु की अवधि जैसे थोड़ी होती है वैसे ही मनुष्य जीवन की गति है। इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

जैसे कुश के अग्रभाग पर टिका हुआ ओस-बिन्दु थोड़े समय तक ठहरने वाला होता है, फिर समाप्त हो जाता है। उसी प्रकार मनुष्य का जीवन भी समाप्त होने वाला है। इसलिए भगवान महावीर ने संबोध दिया—'समयं गोयम मा पमायए' गौतम! तुम समय मात्र भी प्रमाद मत करो। धम्मपद में भी विषय-भोगों की दृष्टि से जीवन को असार बताया गया है और उत्तराध्ययन में जीवन की चंचलता को दर्शाते हुए कहा गया कि जीवन अस्थायी है, बहुत लम्बे काल तक चलने वाला नहीं है। इसलिए आदमी को प्रमाद से मुक्त रहना चाहिए। अप्रमाद का अभ्यास करना चाहिए।

हमारे सामने दो मार्ग हैं। एक प्रमाद का मार्ग है और दूसरा अप्रमाद का मार्ग है। प्रमाद का मार्ग हमें ऐसे गड्ढे में ले जाता है जहां से निकलना कठिन होता है और अप्रमाद का मार्ग हमें बहुत ऊंचा ले जाता है जहां जाकर मुक्तिश्री का वरण होता है। अप्रमाद की मंजिल है मोक्ष और प्रमाद की आखिरी मंजिल नरक, तिर्यंच आदि गतियां हैं। दोनों मार्ग आदमी के सामने हैं। अब आदमी कौनसा मार्ग चुने, यह आदमी की इच्छा या नियति पर निर्भर करता है।

मनुष्य यह सोचे कि मुझे इस शरीर का सार निकालना है। इस शरीर से तपस्या की जाए। इसके द्वारा साधना की जाए, आराधना की जाए। अच्छा काम किया जाए, परकल्याण का काम किया जाए। कुछ लोग देह-दान करते हैं, कुछ आंखों का, किडनी का या अन्य अंगों का दान कर देते हैं। वे यह सोचते हैं कि मरने के बाद भी मेरा शरीर किसी के काम आए, यूं ही बेकार न जाए। ये लौकिक सेवा के कार्य होते हैं। अध्यात्म या साधना की दृष्टि से भी शरीर का उपयोग हो, इसके लिए आदमी साधना करे, ध्यान करे, तपस्या करे। तपस्या भी एक साधना का प्रयोग है। शरीर को चलाने के लिए खाते तो सभी हैं, किन्तु न खाने में भी बड़ा आनन्द है। उसका भी अनुभव करना चाहिए।

लोग वर्षीतप करते हैं। एक दिन खाना और एक दिन न खाना, यह लम्बी और सुगम तपस्या है। इसमें शरीर के द्वारा सेवा भी की जा सकती है। संस्कृत साहित्य में कहा गया—'विभाति कायः करुणापराणां परोपकारैः न तु चन्दनेन।' यह शरीर शोभित कब होता है? चन्दन के लेप से तो बाह्य शोभा होती है। परोपकार या परकल्याण करने से यह शरीर शोभित होता है। किसी

असंयमी को संयमी बना दिया जाए, भोगी को त्यागी बना दिया जाए तो बड़ी सेवा है। कोई बीमार साधु की सेवा करे तो बड़ी सेवा है। तपस्या के साथ सेवा की भावना, जीवन की दो उपलब्धियां हैं। जहां भी सेवा की अपेक्षा हो सेवा करने की भावना रहनी भी चाहिए। सेवा अनुकम्पा को दर्शाने वाला तत्त्व है। अनुकम्पा की चेतना वाला व्यक्ति अच्छी सेवा कर सकता है। हमारे धर्मसंघ में सेवा का बहुत महत्त्व है। सेवा करना भी तपस्या है। एक साधु को चित्त-समाधि पहुंचाना, उसके शरीर को साता पहुंचाना, उसे आहार पानी लाकर देना भी सेवा है। इस शरीर का हम उपयोग करें। सेवा करें, साधना करें तो शरीर की सार्थकता है। अन्यथा इसका तो कभी न कभी विनाश हो जाएगा।

धम्मपदकार ने कहा है कि हमारा यह जीवन फेन के समान है और मृग मरीचिका के समान है। इसका सार निकालकर कामना के फंदे को तोड़ गिराओ। आदमी यथार्थ को समझे। यथार्थ समझ में आ जाए तो आदमी का आचरण भी अच्छा हो सकता है। यथार्थ को समझे बिना बात कुछ और होती है और यथार्थ को समझने के बाद बात कुछ और हो जाती है। गरीब घर का लड़का स्कूल पढ़ने जाता था। कई बच्चे मिले और आपस में बातें करने लगे—हमने तो दूध पीया और साथ में नाश्ता भी किया। गरीब घर का बेटा सोचने लगा कि मेरे साथी दूध पीते हैं तो मुझे भी दूध पीना चाहिए। छुट्टी के बाद जब वह घर गया तो मां से कहा—मां! मैं भी कल से दूध पीकर स्कूल जाऊंगा वरना स्कूल नहीं जाऊंगा। मां ने सोचा, मैं गरीब घर की हूं। मैं दूध कहां से पिलाऊं? मां की आंखों में आंसू आ गए। वह सोचने लगी, मैं कैसी मां हूं जो अपने बेटे को दूध भी नहीं पिला सकती। आखिर मां जब रोटियां बनाती तो आटे के धोवन-पानी में चीनी मिलाकर बेटे को पिला देती। बच्चा उसे दूध समझकर पी लेता। एक बार धनवान घर का बेटा उसका मित्र बन गया। उसने कहा—कल का नाश्ता तुम्हें मेरे घर करना है। उसके घर बढ़िया नाश्ता किया और असली स्वादिष्ट दूध पीया। उसने सोचा—मां मुझे जो दूध पिलाती है उसमें और इसमें तो बहुत फर्क है। बच्चा घर गया और मां से पूछा—मां! तुम मुझे रोज क्या पिलाती हो? मैंने आज जो दूध पीया, वह

असली दूध था। मां ने सोचा—अब इसे यथार्थ बताना पड़ेगा। मां ने कहा—मैं तुम्हें चीनी मिलाकर आटे का पानी पिलाती हूं। अपने घर में दूध कहां से आएगा? तुम अच्छी पढ़ाई करोगे, बड़े बनोगे, अच्छी कमाई करोगे, तब हमारे घर में दूध आएगा। बच्चे ने भी परिवार की स्थिति समझकर संतोष कर लिया। बच्चे ने पढ़ लिखकर अच्छा व्यापार किया और खूब पैसा कमाया। जब तक यथार्थ को नहीं समझा, तब तक बच्चा आटे के पानी को भी दूध मानता रहा। हम भी यथार्थ को समझें कि जीवन का सार क्या है? इस देह के द्वारा इस देही का कल्याण करना जीवन का सार है। आदमी त्याग और अनासक्ति की भावना रखे तो कल्याण का मार्ग प्रशस्त हो सकता है।

४

कामभोग के पुष्पों को न चुनें

आदमी में कामभोग का आसंग-संग देखने को मिलता है। वह विषय आसेवन करता और उसमें आसक्त भी होता है। जिसका दृष्टिकोण बहिर्मुखी है, वह काम-भोग के पुष्पों को चुनता है और काम-भोग सेवन करते-करते एक समय आता है कि वह भोग नहीं कर सकता, जीवन की लीला समाप्त हो जाती है। बौद्ध साहित्य के महान् ग्रन्थ धम्मपद में कहा गया है—

पुप्फानि हेव पचिनन्तं व्यासत्तमनसं नरं।
सुत्तं गामं महोघो'व मच्चु आदाय गच्छति।।४/४।।

(काम-भोग रूपी) पुष्पों को चुनने वाले आसक्तियुक्त मनुष्य को मृत्यु उसी प्रकार पकड़ ले जाती है, जिस प्रकार सोए हुए ग्राम को बड़ी बाढ़।

पुप्फानि हेव पचिनन्तं व्यासत्तमनसं नरं।
अतित्तं येव कामेसु अन्तको कुरुते वसं।।४/५।।

कामभोग रूपी पुष्पों को चुनने वाले आसक्तियुक्त पुरुष को कामभोगों में अतृप्त हुए ही मृत्यु अपने वश में कर लेती है।

जो व्यक्ति इन काम-भोग के पुष्पों का संचयन करता है और उसमें आसक्त मन वाला होता है, उसे तृप्ति नहीं मिलती। वह अतृप्त बना रहता है। उस अतृप्त अवस्था में ही उसे मौत अपने वश में कर लेती है, उठा लेती है। यह मन की तृष्णा है। यद्यपि मौत तो सभी को ले जाती है। चाहे आसक्त हो या अनासक्त, पापी हो या धर्मी, साधु हो या असाधु, मौत किसी को नहीं छोड़ती, परन्तु इतना फर्क है जो साधु है, धर्मी है, उसके लिए आगे की स्थिति

अच्छी होने की संभावना है और जो व्यक्ति आसक्त है, उसके आगे की स्थिति भी अच्छी न होने की संभावना है। उसका भविष्य धुंधला या अंधकारमय होता है। आदमी विचार यह करे कि एक दिन मौत मुझे उठा ले जाएगी। इसलिए मैं पापों से बचने का प्रयास करूं और काम-भोग के पुष्पों का चयन न करूं। मैं अनासक्ति की साधना का अभ्यास करूं।

कई बार वृद्धावस्था में भी आदमी के मन में लालसा बनी रह जाती है। कभी कठोर साधना करने वाले साधु का मन भी लालसायुक्त हो सकता है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया—

सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा।
कामे पत्थेमाणा, अकामा जंति दोग्गइं।।९/५३।।

कामभोग शल्य हैं, विष हैं और आशीविष सर्प के तुल्य हैं। कामभोग की इच्छा करनेवाले उनका सेवन न करते हुए भी दुर्गति को प्राप्त होते हैं।

साधक वह है जो कामभोगों को छोड़ने और आसक्ति का परित्याग करने का अभ्यास करता है। जो साधना करता है, उसका जीवन अपने आप में धन्य हो जाता है। जीवन में आचार नहीं है, साधना नहीं है, तो 'आचारहीनं न पुनंति वेदाः' अर्थात् वेद भी उसको पुनीत नहीं बना सकते। आसक्ति है तो उससे जुड़ी हुई चीजें अहंकार और ममकार भी होते हैं। 'अहंकार-ममकारनामानौ सेनान्यौ मोहभूपतेः' अर्थात् मोह रूपी राजा के सेनापति हैं—अहंकार और ममकार। इनका परित्याग करना साधना होती है। आदमी सोचे कि जैसे-जैसे जीवन आगे बढ़ रहा है, साठ वर्ष आ गये, सत्तर वर्ष आ गए, अब तो मैं कामभोगों के फूलों को चुनना बंद करूं। अब तो अध्यात्म में रमण करूं।

साधना का मार्ग अन्तर्मुखता का मार्ग है, अपनी ओर झांकने का मार्ग है। साधना के मार्ग में सम्यक् ज्ञान और सम्यक् आचार दोनों का योग चाहिए। अगर आचार नहीं है तो कोरा ज्ञान का होना बहुत बड़ी बात नहीं। ज्ञानहीन आचार और आचारहीन ज्ञान दोनों अच्छे तो हैं, पर दोनों का योग होने पर जो सम्पूर्णता आती है, वह सम्पूर्णता न तो कोरे ज्ञान में आ सकती है और न कोरे आचार में आ सकती है। दोनों का योग परिपूर्णता प्रदान करने वाला होता है।

आदमी वैराग्य की दिशा में आगे बढ़े। गार्हस्थ्य में भोग भी होता है।

सांसारिक जीवन में रहते हुए भी वह कितना अभोग, अकाम रह सकता है, इस पर गृहस्थ को ध्यान देना चाहिए। ध्यान देने से साधना को आगे बढ़ाया जा सकता है। जैन श्रावक सामायिक का अभ्यास करते हैं। साधुओं के तो जीवन भर की सामायिक होती है। गृहस्थ लोग एक मुहूर्त्त के कालमान की सामायिक करते हैं। वह भी अनासक्ति का अभ्यास है, समता की साधना है और आत्मा की आराधना है। समय शब्द का एक अर्थ किया गया है—सिद्धान्त। जो धर्म का, दर्शन का सिद्धान्त है, वह समय होता है। दो शब्द मिलते हैं—स्व-समय और पर-समय। स्व-समय यानी अपने धर्म का सिद्धान्त और पर-समय यानी दूसरों के धर्मों के सिद्धान्त। बहुश्रुत व्यक्ति को स्व-समय का ज्ञान तो होना ही चाहिए, किन्तु पर-समय का भी कुछ ज्ञान होना चाहिए। दूसरों के धर्म-दर्शन के बारे में सामान्य जानकारी हो तो तुलनात्मक अध्ययन करने में, तुलनात्मक विवेचन करने में सुविधा होती है। किसी के द्वारा जिज्ञासा करने पर वह जिस धर्म-दर्शन का अनुयायी है, उसके अनुरूप उसे धर्म की बात बताने में आसानी हो जाती है। जिसमें समता की आय होती है वह सामायिक होती है। सामायिक करने का मतलब है धर्म के पुष्पों का संचयन करना। गृहस्थ जब सामायिक करता है तो उस दौरान वह वेशभूषा से, आचरण से, समता की साधना से साधु जैसा बन जाता है। हालांकि पूरा साधु तो नहीं बन सकता। क्योंकि सामायिक लेने पर भी उसके पाप की क्रिया चालू रहती है। उसके त्याग यावज्जीवन के लिए नहीं हैं। एक मुहूर्त्त के लिए भी सावद्ययोग का पूरा त्याग नहीं हो सकता। जैसे कोई श्रावक सामायिक कर रहा है। वह जब घर से निकला, तब घर में कहकर आया था कि आज अमुक सब्जी बनाना है। अब घर में जो सब्जी बन रही है वह सामायिक में बैठे आदमी के आदेश से बन रही है। सामायिक में भी उसके आरम्भ समारंभ हो रहा है यानी वह क्रिया उसके द्वारा ही संचालित की जा रही है। किसी व्यक्ति ने किसी को पैसा दिया उसका ब्याज मिलता है। सामायिक के दौरान भी वह ब्याज का क्रम चालू रहता है। इस प्रकार सामायिक करने पर भी श्रावक के सावद्ययोग का संबंध रहता है। इसलिए वह पूरा साधु नहीं हो सकता। साधु जैसा कुछ अंशों में, कुछ समय के लिए हो सकता है। चौबीस घंटों में यदि एक सामायिक रोज हो जाती है तो

एक अच्छी कमाई हो जाती है। अनेक लोग तो एक दिन में भी अनेक-अनेक सामायिक कर लेते हैं। हमारी वृद्ध बहनें, जिनके पास ज्यादा कोई काम नहीं है, वे एक दिन में भी चार-पांच या उससे भी अधिक सामायिक कर लेती हैं। वे अपने समय का सदुपयोग करती हैं, अपने गार्हस्थ्य को सार्थक बनाती हैं। जिनको भी समय मिले, अनुकूलता हो, तो ज्यादा सामायिक का अभ्यास करना चाहिए। ज्यादा समय न मिले तो एक सामायिक भी रोज करने का प्रयास करना चाहिए। जो वृद्धावस्था के लोग हैं, रिटायर्ड लाईफ जी रहे हैं, घर के कार्यों से प्रायः निवृत्त हो चुके हैं, उनको तो आलस्य करना ही नहीं चाहिए, सामायिक में अपना समय बिताना चाहिए। इससे दो लाभ होंगे–

- उन्हें सामायिक का धार्मिक लाभ मिलेगा।
- वे घर के कलह, कदाग्रह से भी काफी बचे रहेंगे।

श्रावक प्रतिक्रमण में सुन्दर कहा गया है–

धर्म है समता, विषमता पाप का आधार है।
जैन शासन के निरूपण का यही बस सार है।।
त्याग कर सावद्य चर्या, सुखद सामायिक करूं।
लीन अपने आप में हो मैं भवोदधि को तरूं।।

आदमी यह सोचे कि मुझे यह जीवन प्राप्त हुआ है, उसका मैं अच्छा लाभ उठाऊं, उसका अच्छा उपयोग करूं, भले कार्य करूं, पवित्र कार्य करूं, निरवद्य कार्य करूं, कल्याणकारी कार्य करूं। ऐसा करने से यह जीवन सार्थक बन सकता है। सामायिक एक ऐसा अनुष्ठान है जो हमारे दिन को शुभ बनाने वाला होता है, आत्मा को मंगल बनाने वाला होता है। सामायिक लेने के बाद निठल्ला नहीं रहना चाहिए। कोई धार्मिक कार्य करना चाहिए। सबसे अच्छा काम है सामायिक में व्याख्यान श्रवण करना। वह संभव न हो तो स्वाध्याय करें, जप करें यानी कुछ न कुछ धार्मिक अनुष्ठान सामायिक में चलना चाहिए। ज्यों-ज्यों समता का अभ्यास होता है, अनासक्ति की साधना सिद्ध होती है, त्यों-त्यों आदमी का आसक्ति का भाव छूटता चला जाता है।

आदमी काम-भोगों के पुष्पों का चयन करने से बचे अथवा अल्पीकरण करे और धर्म को समझे। अध्यात्म की आराधना से ही कल्याण हो सकेगा।

५

आवश्यकता की पूर्ति कैसे हो?

हमारे जीवन में शरीर एक महत्त्वपूर्ण घटक है। जीवन जीना है तो शरीर का टिकना भी आवश्यक है। उसे टिकाने के लिए आदमी और अन्य प्राणी भी प्रयत्न करते हैं। इस शरीर को टिकाए रखने के लिए हवा की आवश्यकता होती है, पानी की आवश्यकता होती है और भोजन की आवश्यकता होती है। ये हमारी अनिवार्य अपेक्षाएं हैं। नम्बर दो की अपेक्षाएं हैं—कपड़ा और मकान। हालांकि बिना कपड़ा पहने भी आदमी जी सकता है। दिगम्बर मुनि बिना कपड़े के भी जीवन जीते हैं। फिर भी सामान्य आदमी के लिए कपड़ा जीवन की एक अपेक्षा है। इसके साथ मकान की भी आवश्यकता होती है। इससे आगे चलें तो हमारे जीवन की अपेक्षा है—शिक्षा और चिकित्सा। यद्यपि शिक्षा के बिना तो आदमी जी सकता है, परन्तु शरीर को स्वस्थ बनाने के लिए चिकित्सा की अपेक्षा यदा-कदा पड़ जाती है। गृहस्थ को भोजन और पानी चाहिए तो साधु को भी चाहिए। साधु उसकी पूर्ति कैसे करे? भोजन के निर्माण में भी हिंसा होती है और पानी में भी हिंसा होती है। साधु के एक ओर अहिंसा महाव्रत को निभाने का संकल्प, दूसरी ओर शरीर को टिकाने के लिए भोजन-पानी की आवश्यकता। अब दोनों के बीच का रास्ता क्या हो? भोजन-पानी के लिए हिंसा करे तो अहिंसा महाव्रत के सामने समस्या है और अहिंसा का पालन करे तो भोजन-पानी कैसे मिले? इस संदर्भ में बौद्ध साहित्य के महान् ग्रन्थ धम्मपद ने एक रास्ता दिखाते हुए कहा—

यथापि भमरो पुप्फं वण्णगंधं अहेठयं।
पलेति रसमादाय एवं गामे मुनी चरे।।४/६।।

जैसे भ्रमर पुष्प के वर्ण और गंध को बिना हानि पहुंचाए, रस को लेकर चल देता है, वैसे ही मुनि ग्राम में भिक्षाटन करे।

जैसे भ्रमर फूलों से थोड़ा-थोड़ा रस लेकर अपना काम चलाता है और फूलों को भी क्लान्त नहीं करता। वैसे ही भिक्षु विभिन्न घरों में जाए और थोड़ा-थोड़ा आहार इकट्ठा करे ताकि गृहस्थों पर भी भार न पड़े और साधु का भी काम हो जाए। एक बीच का रास्ता बताया कि भ्रमर की तरह भिक्षा करो। यह भ्रामरी वृत्ति या माधुकरी वृत्ति है। ऐसी ही बात हमें जैन वाङ्मय के दसवेआलियं में प्राप्त होती है। वहां कहा गया है—

जहा दुमस्स पुप्फेसु, भमरो आवियइ रसं।
न य पुप्फं किलामेइ, सो य पीणेइ अप्पयं।।१/२।।

जिस प्रकार भ्रमर द्रुम-पुष्पों से थोड़ा-थोड़ा रस पीता है, किसी भी पुष्प को म्लान नहीं करता और अपने को भी तृप्त कर लेता है।

गोचरी साधु जीवन की चर्या का एक अंग है, साधना का अंग है। श्रावक-श्राविकाएं जो साधुओं को दान देते हैं, वे भी अहोभाग्य समझें कि वह दिन, वह समय बड़ा धन्य है जब साधु-साध्वियों के पात्र में हमारा शुद्ध दान लगता है। गृहस्थों के घर में कितना भोजन बनता है, कितनी चीजें बनती हैं, उनमें से कुछ साधु-साध्वियों के काम आ जाए तो अपना सौभाग्य समझना चाहिए। हम भिक्षु धर्म के प्रति जागरूकता रखें और यथोचित रूप में उसका निर्वाह करें।

६

चेतना की निर्मलता

आदमी दूसरों को देखता है। क्योंकि आंखें अभ्यस्त होती हैं दूसरों को देखने के लिए। आंखों की क्षमता भी है कि वह दूसरों को आसानी से देख लेती है। आदमी का स्वयं का चेहरा देखना हो तो आंखों को दर्पण का सहारा चाहिए। अन्यथा अपना चेहरा प्रायः नहीं दिखता है। आदमी दूसरों को देखे, वह भी उपयोगी बात हो सकती है, पर अपने आपको भी देखने का प्रयास करे। बौद्ध साहित्य के महान् ग्रन्थ धम्मपद में कहा गया है–

न परेसं विलोमानि न परेसं कताकतं।
अत्तनो'व अवेक्खेय्य कतानि अकतानि च।।४/७।।

न तो दूसरों के विरोधी (वचन) पर ध्यान दे, न दूसरों के कृत्याकृत्य को देखे, केवल अपनी ही कृत्याकृत्य का अवलोकन करे।

आदमी दूसरों के विरोधी वचनों को न देखे। दूसरा कुछ भी बोल दे, कुछ भी कर दे, उसकी परवाह न करे और दूसरे क्या बुरा करते हैं, क्या भला करते हैं, उस पर भी ध्यान न दे यानी उस पर मन को केन्द्रित न करे, राग-द्वेष में न जाए। यह ध्यान दे कि मैं क्या कर रहा हूं, मैं कैसा हूं, मेरे में क्या है?

आर्हत् वाङ्मय के आयारो सूत्र में कहा गया है–'अणेगचित्ते खलु अयं पुरिसे' अर्थात् यह पुरुष अनेक चित्तों वाला है। उसमें अनेक प्रकार की चेतना होती है। एक आदमी कभी शांत दिखाई देता है तो कभी उसे आक्रोश में भी देखा जा सकता है। कभी विनम्रता की प्रतिमूर्ति-सा दिखाई देता है तो कभी उसमें अहंकार का भाव भी देखने को मिल सकता है। कभी सरलता दिखती है

तो कभी कुटिलता भी आ जाती है। कभी संतोष का भाव मिलता है तो कभी उसमें लोभ का दर्शन भी किया जा सकता है। आदमी के भीतर ऐसे भाव हैं, वे कभी उसको अच्छा बना देते हैं और कभी बुरा बना देते हैं। जब अच्छे भाव उजागर होते हैं तो आदमी का व्यवहार भी अच्छा बन जाता है और बुरे भाव उजागर होते हैं तो आदमी अपराधी भी बन जाता है। अगर आदमी के जीवन में साधना का भाव जाग जाये तो चेतना निर्मल बन सकती है। बौद्ध साहित्य के महान् ग्रन्थ धम्मपद में कहा गया है—

तेसं सम्पन्नसीलानं अप्पमादविहारिनं।
सम्मदञ्ञा विमुत्तानं मारो मग्गं न विन्दति।।४/१४।।

जो वे शीलवान् निरालस हो विहरने वाले, यथार्थ ज्ञान द्वारा मुक्त हो गये हैं, उनके मार्ग को मार नहीं पाता।

धम्मपदकार ने कहा कि जिस साधक के जीवन में यह साधना आ गई, शील आ गया, अप्रमाद आ गया, अनालस्य आ गया, सम्यक् ज्ञान से जो पापों से मुक्त हो गया है, ऐसे आदमी को कामना या मृत्यु कभी परास्त कर नहीं सकती, कामना उसको अपने वश में नहीं कर सकती।

साधना का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है—अनुकम्पा। यदि अनुकम्पा की चेतना आदमी में जाग जाती है तो फिर वह दूसरों का अहित करने से डरेगा। वह सोचेगा मेरी ओर से किसी को तकलीफ न हो जाए। मैं भले थोड़ा कष्ट भोग लूं, पर दूसरों को मैं दुःख देने से बचूं। जो दुःखी हैं, जिनका चित्त असमाधिस्थ है, चिन्ता में है, कष्टों में है, उनका मैं कितना कष्ट दूर कर सकता हूं। जितना संभव हो सके, मैं दूसरों के कष्टों को दूर करने का प्रयास करूं, उन्हें चित्तसमाधि पहुंचाने का प्रयास करूं। जिसमें अनुकम्पा की चेतना जाग गई है, वह व्यक्ति धोखाधड़ी नहीं करेगा।

एक सेठ अपनी दुकान में बैठा था। वह अनाज की दुकान थी। एक बकरा दुकान में घुस गया। सेठ ने नौकरों से कहा—इसको बाहर निकालो। नौकरों ने उसे बाहर निकालने का प्रयास किया, किन्तु बकरा खुंखार था। वह सामने हो गया, नौकर डर गए। सेठ ने कहा—अरे तुम लोग तो कागजी जवान हो, नाम के जवान हो, लाठी मुझे दो। सेठ स्वयं उठा और बकरे के सिर में

लाठी की दो-तीन जमा दी। बकरा बौं-बौं करता हुआ बाहर भाग गया। सेठ ने नौकरों से कहा—देखा ना, मेरे में कितनी ताकत है। मैंने असली घी खाया है। इस प्रकार अपनी भुजाओं को तानकर वह बता रहा था। उसकी दुकान के ठीक सामने एक बाबाजी का आश्रम था। सेठ को देखकर बाबाजी को हंसी आ गई। सेठ ने सोचा, महात्माजी बड़े त्यागी पुरुष हैं। ये मेरी ओर देखकर हंस रहे हैं। इसके पीछे कोई कारण होना चाहिए। सेठ आश्रम में गया।

महात्माजी—सेठ साहब! आज कैसे आ गए?

सेठ—महाराज! आज तो आपने ही बुला लिया। आप मेरी ओर देखकर हंस रहे थे। आपके हंसने का कारण क्या था?

महात्माजी—अभी दुकान में कौन आया था?

सेठ—अभी तो बकरा आया था।

महात्माजी—तुमने क्या किया?

सेठ—मैंने उसको मारकर निकाल दिया। अन्यथा वह सारा अनाज खराब कर देता।

महात्माजी—वह बकरा पिछले जन्म में कौन था?

सेठ—यह ज्ञान तो मुझे नहीं है। आप ज्ञानी पुरुष हैं, आप ही बताएं।

महात्माजी—तुम्हारे पिताजी का नाम क्या था?

सेठ—मेरे पिताजी का नाम तो सेठ श्रीधरजी था।

महात्माजी—वे कहां हैं?

सेठ—वे तो कुछ वर्षों पहले दिवंगत हो गए थे।

महात्माजी—तुम्हारा पिता धोखाधड़ी करता था। इसलिए उसकी गति खराब हो गई। वह मरकर बकरे की योनी में आ गया। आज जब उसे कसाई पकड़ने के लिए आ रहा था तो उसने बाजार में यह दुकान देखी। दुकान देखते ही पिछले जन्म का ज्ञान हो गया। उसे याद आ गया कि यह दुकान तो मेरी है। मेरा बेटा ही तो मालिक है। मैंने ही तो दुकान शुरू की थी। यहां मैं सुरक्षित रह सकता हूं। यह सोचकर वह तुम्हारी दुकान में घुसा था। तुम ऐसे सपूत निकले

कि बेचारे को मार-मार कर भगा दिया।

यह सुनते ही सेठ के मानो होश उड़ गए। उसने कहा—मैं अभी जाता हूं और उनको लेकर आता हूं।

संत—अब क्या लेकर आओगे, उसका तो काम तमाम हो गया।

कसाई ने उसको पकड़ा और खत्म कर दिया।

कथन का तात्पर्य है कि जो छल-कपट करता है, झूठ बोलता है तो उसकी अगली गति खराब हो सकती है। जिसमें अनुकम्पा की चेतना होती है, वह व्यक्ति धोखाधड़ी करने से बचता है, गलत कामों से बचता है। नशा मुक्त जीवन जीता है, संयम का जीवन जीता है। धर्म का एक सार है—जीवन में अनुकम्पा जाग जाए, सद्भावना जाग जाए। परस्पर सबमें प्रेम और सौहार्द बना रहे। छोटे-छोटे प्राणियों के प्रति, जीव जन्तुओं के प्रति, पशुओं के प्रति भी हमारे मन में दया की भावना रहे। हमारी ओर से किसी को तकलीफ न हो। वे भी जीव हैं, प्राणी हैं। उनमें भी आत्मा है। हम उनके प्रति भी अहिंसा और मैत्री की भावना रखें।

आदमी में खराब चेतना भी होती है और अच्छी चेतना भी होती है। हम खराब चेतना को दूर करने का, कमजोर करने का, क्षीण करने का प्रयास करें और अपने आप में अच्छी चेतना जगाने का प्रयास करें, ऐसा करने से हम कल्याण के पथ पर आगे बढ़ सकेंगे।

७

कथनी-करनी में समानता

बौद्ध साहित्य के महान् ग्रन्थ धम्मपद में कहा गया है—

यथापि रुचिरं पुप्फं वण्णवन्तं सगन्धकं।
एवं सुभासिता वाचा अफला होति अकुब्बतो।।४/८।।

जैसे सुन्दर, वर्णयुक्त निर्गन्ध पुष्प होता है, वैसे ही (कथनानुसार) आचरण न करने वाले के लिए सुभाषित वाणी निष्फल होती है।

एक आदमी बहुत अच्छी-अच्छी बातें करता है, परन्तु उसका स्वयं का आचरण उन बातों के अनुरूप नहीं होता, वह व्यक्ति कैसा होता है? इस विषय में धम्मपदकार ने कहा कि एक ऐसा फूल हमारे सामने है, जो दीखने में बड़ा सुन्दर है, वर्णवान है, परन्तु उसमें सुगन्ध नहीं है। ऐसा सुगन्धविहीन फूल सुन्दर होने पर भी ज्यादा काम का नहीं होता। इसी प्रकार केवल ऊंची-ऊंची बातें बोलने वाला और काम नहीं करने वाला व्यक्ति भी उस सुगन्धहीन फूल के समान होता है। आदमी की कथनी और करनी में समानता का विकास होना चाहिए। परमपूज्य गुरुदेव तुलसी ने एक गीत में कहा—'कथनी-करनी की समानता में गतिशील चरण हो।' आदमी इस दिशा में चरण आगे बढ़ाए कि मेरी कथनी और करनी में समानता आए। जैसा मैं कहता हूं, वैसा करके दिखाऊं। आदमी का संकल्प जाग जाए तो जैसा वह कहता है, वैसा कर भी सकता है।

आगे बढ़ने के लिए कभी दूसरों का सहारा भी लिया जा सकता है। दूसरों के सहारे से भी आदमी गति कर सकता है। छोटा बच्चा स्वयं नहीं चल

सकता। वह मां की अंगुली पकड़कर चलता है। मां की अंगुली के सहारे वह कितना आगे बढ़ जाता है। वृद्ध आदमी के चलने में कठिनाई होती है तो वह गेडीए का, लाठी का सहारा लेता है, जिससे चलने में सुविधा हो जाती है। विकास आदमी स्वयं अपने पैरों से करे, अच्छी बात है। अगर स्वयं के पैरों में शिशुत्व के कारण या वृद्धत्व के कारण वह क्षमता नहीं है तो दूसरों के सहारे से भी विकास किया जा सकता है।

एक राजा का स्वर्गवास हो गया। उसके कोई संतान नहीं थी। उसके राज्य में बाज पक्षी प्रशिक्षित किया हुआ था। मंत्री परिषद् के सदस्यों ने यह निर्णय किया कि इस बाज पक्षी को उड़ाया जाए। यह जिसके ऊपर जाकर बैठ जाएगा, उसको राजा बना देंगे। निर्णय के अनुसार बाज पक्षी को उड़ाया गया। वह उड़ते-उड़ते तालाब के पास बैठे लकड़हारे के कंधे पर जाकर बैठ गया। सबने उसको राजा के रूप में स्वीकार किया। उस लकड़हारे को महलों में लाया गया। उसे सुसज्जित किया गया और अच्छे मुहूर्त्त में राज्याभिषेक कर दिया गया। लकड़हारा युवावस्था का था। इसलिए राज्य का युवा राजा बन गया। उसका मंत्री अस्सी वर्ष का वृद्ध था। राज्याभिषेक का कार्यक्रम संपन्न होने के बाद नवाभिषिक्त राजा जब सिंहासन से नीचे उतरा, तब वृद्ध मंत्री के कंधों का सहारा लेकर उतरा। वृद्ध मंत्री को हंसी आ गई।

राजा—मंत्री महोदय! आपको हंसी किस बात की आई?

मंत्री—महाराज! मैं तो अस्सी वर्ष का वृद्ध व निर्बल आदमी हूं और आप चालीस वर्ष के युवा व सबल पुरुष हैं। आपने मेरा सहारा लिया, यह कहां तक उचित बात है?

राजा ने बड़ी मार्मिक बात कही—मंत्री महोदय! आपकी बात उचित है। मुझे क्या जरूरत थी सहारा लेने की? पर इस सहारे के माध्यम से मैं यह बताना चाहता हूं कि मैं तो लकड़हारा था, अनपढ़ आदमी था, अब मैं सिंहासन पर बैठ गया हूं, राजा बन गया हूं, पर मेरे पास ज्यादा बौद्धिक विकास नहीं है। इसलिए मैं आप जैसे बुद्धिमान मंत्री का सहारा लेकर राज्य का संचालन करूंगा। कितनी गहरी बात एक अनपढ़ राजा ने आसानी से कह दी।

दूसरों का सहारा भी लिया जा सकता है, पर मूल बात है स्वयं का विकास होना चाहिए।

आदमी केवल वाग्विलास ही न करे, वाणी से जो कहे वह क्रियात्मक रूप में करके दिखाए। जो व्यक्ति केवल बात करता है, किन्तु वैसा आचरण नहीं करता, वह सुगन्धहीन पुष्प के समान होता है। बात करने वाला व्यक्ति यदि साथ में काम भी करे तो उसका जीवन सफल होता है, उसकी वाणी सफल होती है।

जो प्रमुख होता है, वह पथदर्शन दे और कार्यकर्ता में प्रोत्साहन का प्राण फूंकता रहे तो कार्यकर्ता बड़ी निष्ठा के साथ कार्य कर सकता है। उसे प्रोत्साहन न मिले, प्रेरणा न मिले, पथदर्शन न मिले तो धीरे-धीरे कार्यकर्ता रूपी जो फूल है वह मुरझा भी सकता है। फूल मुरझाए नहीं। इसलिए सिंचन की आवश्यकता होती है। हमारी बाल-पीढ़ी एक नई पौध है। ज्ञानशाला के माध्यम से इस पीढ़ी को सिंचन देने का प्रयास किया जा रहा है। आज जो बच्चे हैं, वे कभी बड़े होंगे और अच्छे कार्यकर्ता बन सकेंगे। उनको संस्कार देने की अपेक्षा है। उन्हें तैयार करने की अपेक्षा है। हमारी प्रशिक्षिकाएं और कार्यकर्ता अपनी शक्ति का प्रयोग करते हुए बच्चों को संस्कारी बनाने का प्रयास करें और उन्हें सारपूर्ण बातें बताएं।

राजा का अभी कुछ दिन पहले ही अभिषेक हुआ था, चार पंडित आए और बोले—महाराज! हम आपके राज्य के पंडित हैं। आप नये राजा बने हैं। इसलिए हम चार बड़े-बड़े शास्त्र आपको भेंट करने आए हैं। प्रत्येक शास्त्र में एक-एक लाख संस्कृत भाषा के श्लोक हैं। आप उनका गहराई से अध्ययन करें तो आपके राज्य-संचालन में बड़ी सुविधा होगी।

राजा बोला—पंडितप्रवरो! आप सबका मैं सम्मान करता हूं। पर मैं तो राज्य-संचालन में इतना व्यस्त रहता हूं कि चार लाख श्लोकों का अध्ययन करने का समय मेरे पास नहीं है। आप मुझे संक्षेप में कोई बात बताओ तो मैं ध्यान दे सकता हूं। संक्षेप करते-करते आखिर यह फैसला हुआ कि एक श्लोक बना दिया जाए। उसमें चारों शास्त्रों का सार आ जाए। चारों पंडितों ने अपने-

अपने शास्त्र का सार एक-एक चरण में गुंफित कर दिया। वह श्लोक इस प्रकार है—

जीर्णे भोजनमात्रेयः, कपिलः प्राणीनां दयाः।
बृहस्पतिरविश्वासः, पञ्चालः स्त्रिषु मार्दवः।।

पहला स्वास्थ्य शास्त्र है। उसका विद्वान् आत्रेय है। स्वास्थ्यशास्त्र का सारपूर्ण सिद्धान्त है—'जीर्णे भोजनं' अर्थात् पहले खाया हुआ भोजन पचने के बाद ही कुछ खाना चाहिए। उससे पहले नहीं खाना चाहिए। दूसरा पंडित बोला—महाराज! मैं धर्मशास्त्र का विद्वान् कपिल हूं। धर्मशास्त्र का सार है—प्राणियों के प्रति दया करना। दया यानी अनुकम्पा। आदमी के जीवन में अनुकम्पा आ जाए कि मैं किसी को तकलीफ न दूं। मैं किसी का बुरा न करूं, दुखियों को देखकर कंपन हो कि दुखियों का दुःख दूर कैसे हो? उन्हें सुख कैसे मिले? चित्तसमाधि कैसे मिले? यह चेतना जाग जाती है तो धर्म का एक बहुत बड़ा सार जीवन में आ जाता है। तीसरा राजनीतिशास्त्र का विद्वान् बृहस्पति बोला—महाराज! हमारे राजनीतिशास्त्र का एक सारभूत सिद्धान्त यह है कि किसी का विश्वास नहीं करना चाहिए। जैसा मौका देखे, वैसा काम कर लेना चाहिए। चौथा कामशास्त्र अथवा सौन्दर्यशास्त्र का विद्वान् पंचाल बोला—महाराज! हमारे कामशास्त्र या सौन्दर्यशास्त्र का सार है कि स्त्रियों के प्रति मृदुतापूर्ण व्यवहार करना चाहिए। संक्षेप में सारपूर्ण बातों का अधिक महत्त्व होता है। बच्चों के दिमाग में ऐसी छोटी-छोटी बातें जमा दें कि झूठ नहीं बोलना, लड़ाई-झगड़ा नहीं करना, नशा नहीं करना, गुस्सा नहीं करना। ऐसी कुछ बातें बच्चों के अवचेतन मन तक पहुंचा दें।

आदमी में अपना विवेक जागना चाहिए। विवेकहीन आदमी मित्र भी होता है तो नुकसान कर देता है और विवेक सम्पन्न आदमी कई बार शत्रु होता है तो भी भला कर देता है। किसी राजा के पास कलाकार आया। उसके पास कई बन्दर थे। राजा ने बन्दरों को देखा। वे बन्दर अच्छे लगे। कलाकार ने कहा—महाराज! इन बन्दरों को मैंने प्रशिक्षित किया है। मैं एक बन्दर आपको उपहार में देना चाहता हूं। यह बन्दर आपकी सेवा करेगा, परिचर्या करेगा। यह युद्ध कला का भी जानकार है। आप इसको तलवार हाथ में दें तो यह युद्ध भी

कर सकता है, यह पहरा भी दे सकता है। राजा ने एक बन्दर को स्वीकार कर लिया। राजा उस बन्दर को अपने पास रखता। राजा को बन्दर से इतना प्रेम हो गया कि वह मित्र जैसा बन गया। राजा शयन करता तो बन्दर राजा के पास बैठा रहता। राजा ने तलवार उसके हाथ में दी तो उसने करतब दिखाया कि मैं युद्ध भी कर सकता हूं और आपकी रक्षा भी कर सकता हूं। राजा ने कहा—तुम मेरे बॉडीगार्ड बन जाओ। तुम मेरे शरीर की रक्षा करना। बन्दर ने कहा—मुझे मंजूर है। बन्दर ने राजा की रक्षा करने का संकल्प कर लिया। पर आखिर था तो बन्दर का बन्दर। विवेक तो था नहीं। एक बार राजा सोया हुआ था। बन्दर तलवार हाथ में लिए पास में बैठा था। एक मक्खी राजा के मुंह पर बैठ गई। बन्दर के कहने से वह उड़ी नहीं तो बन्दर ने तलवार से वार किया। मक्खी तो उड़ गई, पर साथ में राजा का चेहरा भी कट गया। कहने का तात्पर्य है कि विवेकहीन सेवक भी किस काम का? विवेकहीन मित्र भी किस काम का? विवेकहीन कोई भी व्यक्ति काम का नहीं होता। बच्चों में भी ऐसी विवेक चेतना जागे कि वे समाज की पवित्र सेवा कर सकें। वे परिवार के लिए समस्या नहीं, अपितु परिवार के लिए समाधान बन जाएं।

८

सब दिशाओं में सुगन्ध : सज्जनों की

बौद्ध साहित्य के महान् ग्रन्थ धम्मपद में कहा गया है–

न पुप्फगंधो पटिवातमेति न चन्दनं तगरमल्लिका वा।
सतञ्च गंधो पटिवातमेति सब्बा दिसा सप्पुरिसो पवाति।।४/११।।

पुष्प चन्दन, तगर या चमेली किसी की भी सुगन्ध उल्टी-हवा नहीं जाती, किंतु सज्जनों की सुगन्ध उल्टी-हवा भी जाती है, सत्पुरुष सभी दिशाओं में सुगन्ध बहाता है।

धम्मपदकार सुगन्ध के द्वारा चरित्र की शिक्षा दे रहे हैं। चन्दन, तगर, चमेली आदि की सुगंध जिस ओर हवा चलती है, उस ओर आगे बढ़ जाती है, किन्तु विपरीत दिशा में सुगन्ध नहीं जाती। यह फूलों के सुगन्ध की एक सीमा हो गई, किन्तु सज्जन पुरुष की सुगन्ध तो चारों ओर फैल जाती है। यह सज्जन की सुगन्ध में और फूल आदि की सुगन्ध में अन्तर होता है। आदमी को यह ध्यान देना चाहिए कि मैं आदमी हूं, परन्तु मेरे में आदमियत और सज्जनता कितनी है? अगर कम है तो मुझे उसको और बढ़ाना चाहिए। यदि है तो उसे पुष्ट करने का प्रयास करना चाहिए। दो प्रकार के आदमी होते हैं–सज्जन और दुर्जन। इन दोनों में अन्तर बताते हुए कहा गया–जिस आदमी के मन, वचन और कार्य में एकरूपता होती है यानी जो बात मन में है वही बात वाणी में है और जो बात वाणी में है वही बात आचरण में है तो वह आदमी सज्जन होता है। जिसके मन में कुछ और है, वाणी में कुछ और है तथा आचरण में कुछ और है वह व्यक्ति दुर्जन होता है। जहां सफाई है, स्वच्छता

है, दिल की निर्मलता है, वहां संतता या सज्जनता होती है। जहां इससे विपरीत बातें होती हैं, वहां दुर्जनता होती है। प्रश्न हो सकता है कि सज्जनता और दुर्जनता का पता कैसे चले? क्योंकि शरीर तो दोनों का एक जैसा होता है। संस्कृत साहित्य में कहा गया—

न जार जातस्य ललाटशृंगं, न साधु जातस्य करे तु पदमम्।

जो बच्चा जार (परस्त्री से प्रेम करने वाले) से पैदा होता है, उसके ललाट पर सींग नहीं होता है और जो श्रेष्ठकुल में पैदा होता है, उसके हाथ में कमल नहीं होता। आदमी के आचरणों से पता लग जाता है कि वह सज्जन है या दुर्जन। आदमी जब साथ में रहता है तो उसकी सज्जनता और दुर्जनता सामने आ जाती है।

राजा सभा में बैठा था। अच्छे कपड़े पहने हुए कोई व्यक्ति आया। राजा ने उसको सम्मान दिया, सत्कार किया। दो चार दिन वह राजा के आस-पास रहा। जब वह वापिस जाने लगा, तब राजा ने उसको कोई सम्मान नहीं दिया। एक दूसरा आदमी जो फटेहाल-सा था, वह आया तब राजा ने उसको सम्मान नहीं दिया, किन्तु जब वह दो चार दिन राजा के आस-पास रहकर वापिस जाने लगा तो राजा ने उसको बहुत सम्मान दिया। उसे पहुंचाने के लिए स्वयं कुछ दूर तक साथ गया। मंत्री ने मंत्रणा के समय पूछा—महाराज! मेरे मन एक जिज्ञासा है। जो आदमी पहले आया था उसका आपने आते समय सम्मान किया, किन्तु जाते समय उसको सम्मान नहीं दिया। जो आदमी बाद में आया था उसका आते समय आपने सम्मान नहीं किया, किन्तु जाते समय उसको बहुत सम्मान दिया। यह फर्क क्यों? राजा ने कहा—मंत्रीवर! आते समय तो कपड़ों का स्वागत होता है और जाते समय उसके आचरण का, व्यवहार का सम्मान होता है। अच्छे कपड़े पहने हुए जो आदमी आया था, मैंने सोचा कोई विशिष्ट आदमी होगा, मैंने उसको सम्मान दे दिया। पर जब वह मेरे आस-पास रहा, तब मुझे पता चला कि यह आदमी कितना कुटिल है, कितना धोखेबाज है, धूर्त है। उसके आचरण मेरे सामने आ गए। इसलिए मैंने जाते समय उसको सम्मान नहीं दिया। दूसरा व्यक्ति जो फटेहाल आया था। मैंने सोचा यह कोई साधारण-सा आदमी है, मैंने उसको सम्मान नहीं दिया। किंतु

जब वह मेरे आस-पास रहा तब मैंने देखा कि उसमें कितनी विद्वत्ता है, कितना ज्ञान है और कितनी सज्जनता है। इसलिए मैंने जाते समय उसको सम्मान दिया।

धम्मपदकार ने बताया कि सज्जन आदमी जहां भी जाता है, जिसके साथ रहता है, व्यवहार करता है, वह सबको शांति देने वाला और सुख देने वाला होता है। मनुष्य में सज्जनता का विकास हो, ऐसा लक्ष्य रहना चाहिए और प्रयास भी करना चाहिए। सज्जन आदमी में धैर्य भी होना चाहिए। उसे तत्काल उत्तेजित नहीं होना चाहिए। उत्तेजना तो सज्जनता की एक कमी है। पूरी तरह बात को सोचे समझे बिना तत्काल प्रतिक्रिया कर देना, तत्काल उत्तेजना में आ जाना, वह अधैर्य का लक्षण होता है। अति उत्सुकता का होना भी एक अधीरता है। कोई बात कही गई है। उस पर ध्यान न देकर अधीरता में आ जाना, यह भी धैर्य की एक कमी होती है। संन्यासी के पास एक युवक आया। वह बोला—गुरुदेव! मुझे ज्ञान देने की कृपा करें। गुरु ने सोचा—इसमें धैर्य है या नहीं, इसका परीक्षण करना चाहिए। गुरु ने कहा—ज्ञान लेने से पहले एक काम करो। मेरे मित्र संन्यासी तीन किलोमीटर दूर रहते हैं, उनको यह एक पेटी देकर आ जाओ। उसके बाद मैं सोचूंगा तुम्हें क्या, कैसे, कितना ज्ञान देना अथवा नहीं देना। एक बात का ध्यान रखना, इस पेटी को तुम बिल्कुल मत खोलना। संन्यासी ने उसके हाथ में पेटी थमा दी। युवक वहां से चला। थोड़ी दूर चलते ही उसके मन में उत्सुकता जागी कि गुरुदेव ने मुझे पेटी खोलने के लिए मना क्यों किया? इसको अवश्य खोलना चाहिए। यद्यपि गुरु का निषेध था, पर अधीरता जागी और पेटी को खोला। पेटी खुलते ही एक चूहा निकलकर भाग गया। उस पेटी में मात्र एक चूहा ही था। युवक गुरु के पास आया और निवेदन किया—गुरुदेव गलती हो गई। मैंने बीच में ही पेटी खोल ली और वह चूहा भाग गया। गुरु ने कहा—अभी तुम ज्ञान लेने के लायक नहीं हो। तुम्हारे में धैर्य आना चाहिए। निर्देश के प्रति निष्ठा जागनी चाहिए। यह अर्हता आ जाएगी तब मैं तुम्हें ज्ञान दूंगा। अभी तो अर्हता बढ़ाओ, पात्र बनो। पात्र को दान देना चाहिए, अपात्र को नहीं। जैन शास्त्रों में ज्ञान के दो दोष बताए गए हैं—'सुट्ठुदिन्नं दुट्ठु पडिच्छियं' अर्थात् जो पात्र नहीं, उसको ज्ञान दे दिया

जाए तो वह ज्ञान का दोष है। अपात्र को ज्ञान देना ज्ञान का अपमान है, ज्ञान की आशातना है। गुरु जो ज्ञान दे, शिष्य उसे ठीक ग्रहण न करे तो वह भी ज्ञान का दोष है। आदमी श्रवण, मनन और निदिध्यासन करे तो ज्ञान पच सकेगा और वह ज्ञान हमारे लिए कल्याणकारी भी हो सकेगा।

९

उत्तम सुगन्ध : सदाचार

बौद्ध धर्म के महान् ग्रन्थ धम्मपद में कहा गया है–

चन्दनं तगरं वापि उप्पलं अथ वस्सिकी।
एतेसं गन्धजातानं सीलगन्धो अनुत्तरो।।४/१२।।

चन्दन या तगर, कमल या जूही, इन सभी की सुगन्धों से शील (सदाचार) की सुगन्ध उत्तम है।

दुनिया में फूल होते हैं। फूलों में सुगन्ध होती है। किन्तु धम्मपदकार ने कहा कि जिस आदमी में शील होता है, उसके शील की सुगन्ध भी बहुत अधिक होती है। शील एक सदाचारमय जीवन है। सदाचार और सद्विचार की अपने ढंग की सुगन्ध होती है। आदमी को फूलों से यह प्रेरणा लेनी चाहिए कि फूलों में जैसे सुगन्ध है, मेरे जीवन में भी वैसी सुगन्ध हो।

एक संत के जीवन में सुगन्ध होती है। उसकी वाणी में भी सुगन्ध होती है। वह सुगन्ध जब फैलती है तो कितने-कितने लोगों को लाभ मिलता है, कितने-कितने लोगों को शांति मिलती है। संत के लिए कहा गया कि वह पंखे के समान होता है। जैसे पंखा स्वयं परिश्रम करता है, घूम-घूमकर आस-पास और नीचे बैठने वाले लोगों का ताप हरण करता है। वैसे ही संत भी जो स्वयं साधना करने वाला है, वह भी घूम-घूम कर लोगों का ताप-संताप दूर करने का प्रयास करता है। संत के शील में एक सुगन्ध होती है और शील का बड़ा प्रभाव माना गया है। जहां एक ओर आत्मा की निर्मलता बढ़ती है, तो कई बार बाह्य प्रतिकूलताएं भी दूर हो जाती हैं। साधना की दृष्टि से विचार करें तो

सदाचार एक साधना है। उसके साथ तन्मयता की साधना भी चले। अपने आराध्य में तन्मयता, नवकार मंत्र आदि के जप में तन्मयता, महावीर का नाम लें तो उसमें भी तन्मयता, राम का नाम लें तो उसमें भी तन्मयता रहे। वीतराग पुरुष कोई भी है, वह उपास्य है, वंदनीय है और वीतरागता के परम साधक भी वंदनीय होते हैं। जो वीतराग आत्मा है, उसकी उपासना में तल्लीनता आती है, वह बड़ी साधना है। स्वयं अपनी आत्मा का दर्शन करें, उतनी क्षमता न हो तो ऐसे आदर्श पुरुष को सामने रखें जिसने आत्मा का दर्शन किया हो।

कहा जाता है कि वाल्मिकी ने रामायण के सौ करोड़ श्लोक बनाए थे। एक अच्छा आकर्षक ग्रन्थ बन गया। देवों ने कहा कि बड़ा सुन्दर ग्रन्थ है। यह हमको मिलना चाहिए। मनुष्यों को भी पता चला तो वे आए और बोले—वाल्मिकी तो स्वयं मनुष्य हैं। इस ग्रंथ पर तो मनुष्यों का अधिकार होना चाहिए। दानवों को सूचना मिली तो वे भी आए और बोले—यह ग्रन्थ तो हम लेंगे। या तो शांति से दे दो, वरना हम झगड़ा करके भी लेना जानते हैं। वाल्मिकी के सामने बड़ी समस्या हो गई। उन्होंने शिवजी को याद किया और कहा—महाराज! यह ग्रन्थ मैं आपको अर्पित करता हूं। आप जिसको देना चाहें, उसको दे दें। अब तीनों देव, मानव और दानव शिवजी के पास आए और कहा—महाराज! यह ग्रन्थ हमको मिलना चाहिए। शिवजी ने सोचा कि मेरे लिए तो तीनों ही समान हैं। मैं तीनों को बराबर बांट दूं। पांती भी बड़े सुन्दर तरीके से हो सकती है। निष्पक्ष भाव से पांती हो जाए तो विवाद को उठने का मौका प्रायः नहीं मिलता। जहां अन्याय हो, किसी को कम देने का प्रयास हो या ठगने का प्रयास हो तो वहां फिर समस्या उलझ भी सकती है। पांती में औचित्य और न्याय होना चाहिए ताकि किसी को बोलने का मौका न मिले। शिवजी ने कहा—मैं तो बराबर पांती करूंगा। कुल सौ करोड़ श्लोक हैं। तुम तीनों में से प्रत्येक को तैंतीस-तैंतीस करोड़ श्लोक दे दूंगा, निन्यानवे करोड़ तो दे दिए, किन्तु पीछे एक करोड़ और बच गए। तीनों बोले—शिवजी महाराज! आप इनका क्या करोगे? ये भी हममें बांट दो। शिवजी ने तैंतीस-तैंतीस लाख फिर बांट दिए। फिर एक लाख बचे। उनको भी तैंतीस-तैंतीस हजार बांट दिये। फिर एक हजार बचे तो तीन सौ-तीन सौं फिर बांट दिए। फिर सौ श्लोक

बचे। सौ श्लोकों में से तैंतीस-तैतीस श्लोक फिर बांट दिए। फिर एक श्लोक बचा। शिवजी ने कहा—यह मेरे पास रहने दो। तीनों ने कहा—नहीं, यह भी आपको बांटना पड़ेगा। संस्कृत भाषा में अनुष्टुप् छन्द का जो श्लोक होता है, उसमें बत्तीस अक्षर होते हैं। शिवजी ने दस-दस अक्षर तीनों में बांट दिए। अब दो अक्षर बचे, उनका बंटवारा कैसे हो? तब शिवजी बोले—ये दो अक्षर मैं रखूंगा। तीनों बोले—ठीक है, आप रखो। किन्तु हमें बता तो दो कि वे दो अक्षर कौनसे हैं? शिवजी बोले—वे दो अक्षर हैं—राम। ये दो अक्षर मेरे पास रहेंगे। तीनों एक साथ बोले—महाराज! मूल चीज जो आपने अपने पास रख ली। हमको तो लंका-दहन, सीता-हरण आदि कुछ बातें दे दीं।

राम शब्द के बारे में जैन रामायण में एक दोहा आता है—

रा उच्चरता मुख थकी, पाप पलाइ जाय।
मति फिर आवै तेह थी, ममो किंवाड़ी थाय।।

रा उच्चारण करते समय हमारा मुख खुलता है ताकि मुख रूपी द्वार से भीतर का जो पाप है, वह बाहर निकल जाए। म उच्चारण करते समय मुख पुनः बंद हो जाता है ताकि जो पाप निकला है वह वापिस अन्दर आ न जाए। इस प्रकार कवि द्वारा होठ रूपी द्वार के खुलने और बन्द हो जाने का यह मर्म बताया गया। राम का जाप तो अच्छा है ही साथ में यह भी ध्यान रखना चाहिए कि पाप बाहर निकल जाएं। अंदर से पापों का शोधन हो जाए। वृत्तियां अच्छी बननी चाहिए और राग-द्वेष कम होने चाहिए। इस लक्ष्य के साथ अगर जप किया जाता है तो वह जप विशेष कल्याणकारी हो सकता है। जप चाहे राम का करें, चाहे महावीर का करें, चाहे परमात्मा का करें, चाहे नवकार मंत्र का करें। मूल बात यह है कि वह वीतराग से संबंधित होना चाहिए।

धम्मपदकार ने कहा कि शील में जो सुगन्ध होती है, वह सुगन्ध अपने-आपमें अनुत्तर होती है। फूलों की सुगन्ध से भी वह ज्यादा मूल्यवान् या अमूल्य होती है। आदमी स्वयं का स्वयं समीक्षण करे, अपना विश्लेषण करे कि दस वर्ष पहले मैं कहां था और आज मैं कहां हूं। मेरे जीवन में विकास होना चाहिए, परिष्कार आना चाहिए। दस वर्ष पहले जो मेरी साधना थी, दस वर्षों के बाद वह साधना बढ़ी या नहीं। ज्यों-ज्यों मेरी अवस्था बढ़ रही है, त्यों-

त्यों मेरी शील की सुगन्ध, मेरे सदाचार की सुगन्ध भी बढ़नी चाहिए और वह ज्यादा आकर्षक होनी चाहिए। बहुत महत्त्वपूर्ण बात है लक्ष्य का निर्धारण करना। आदमी लक्ष्य का निर्धारण करे और फिर लक्ष्य की दिशा में पुरुषार्थ भी करे तो वह आगे बढ़ सकता है। यद्यपि कभी गति मंद भी हो सकती है, पर गति बनी रहे, आदमी अगतिमान न बने। चींटी की गति मंद मानी जाती है और गरुड़ तेज गतिवाला होता है, परन्तु वह चलता नहीं है, अगतिमान है तो वह कहीं नहीं जा पाएगा और चींटी भले कुछ मंद गतिवाली है फिर भी चलती रहती है तो कोसों की दूरी पार कर सकती है। मूल बात है कि आदमी गतिमान बना रहे। वह आलस्य में न जाए। लक्ष्य स्पष्ट है और गतिमान चरण हैं तो आदमी कहीं भी पहुंच सकता है।

फूलों की सुगन्ध तो हमारे आस-पास हो या न हो इतनी खास बात नहीं है, पर शील की सुगन्ध हमारे पास रहे, संयम की सुगन्ध हमारे पास रहे और सादगी की सुगन्ध हमारे पास रहे। कई लोग सेन्ट आदि लगाते हैं। ये सब बाह्य चीजें हैं। भीतर की सुगन्ध प्रस्फुटित हो जाए तो आदमी का कल्याण हो सकता है और वह अपने परम लक्ष्य को भी प्राप्त कर सकता है।

१०

शीलवान की सुगन्ध : स्वर्ग तक

जैन वाङ्मय में साधुओं की भिक्षाचर्या के संदर्भ में पुष्प और भ्रमर का उदाहरण दिया गया है। वहां बताया गया है कि जैसे भ्रमर भिन्न-भिन्न फूलों पर जाकर थोड़ा-थोड़ा रस पीता है, किन्तु फूल को म्लान नहीं करता, वैसे ही साधु घर-घर जाकर थोड़ा-थोड़ा आहार लेता है तो गृहस्थों पर भी विशेष भार नहीं पड़ता और साधुओं का भी काम हो जाता है। बौद्ध साहित्य के महान् ग्रन्थ धम्मपद में सुगन्ध और फूलों के माध्यम से अनेक प्रकार की अभिप्रेरणाएं दी गई हैं। वहां बताया गया है—

अप्पमत्तो अयं गन्धो या'यं तगरचन्दनी।
यो च सीलवतं गन्धो वाति देवेसु उत्तमो।।४/१३।।

तगर और चन्दन की जो यह गन्ध फैलती है, वह अल्पमात्र है और जो यह शीलवानों की गन्ध है, वह उत्तम (गन्ध) देवताओं में फैलती है।

धम्मपदकार कहते हैं कि चन्दन में सुगन्ध होती है, तगर में सुगन्ध होती है, अन्य फूलों में भी सुगन्ध होती है। ये सभी प्रकार की सुगन्धें थोड़ी मात्रा वाली होती हैं, अल्प होती हैं। एक शीलवान या सदाचारी व्यक्ति की जो सुगन्ध होती है, वह बहुत फैलने वाली होती है। वह सुगन्ध देवलोक तक चली जाती है यानी शीलवानों की महिमा एक अलग ढंग की होती है, विशिष्ट होती है और वह सुगन्ध या वह महिमा साधना पर आधारित होती है। जिसकी साधना निर्मल होती है या साधना उच्चकोटि की होती है, उसकी उतनी ही महिमा भी बढ़ जाती है। हालांकि महिमा जगत में फैले या न भी फैले, पर वह

व्यक्ति महामहिम बन जाता है। उसकी महिमा इतनी महान् होती है कि वह आत्मा का उद्धार करनेवाली बन जाती है। साधना के क्षेत्र में दृष्टिकोण का सम्यक् होना भी नितान्त आवश्यक है। जैन तत्त्वविद्या के अनुसार जब तक सम्यक्त्व नहीं है, सम्यक् दर्शन नहीं है, तब तक सम्यक् चारित्र की प्राप्ति भी हो नहीं सकती। सम्यक्त्वविहीन पूर्ण चारित्र हो नहीं सकता। कुछ अंशों में फिर भी साधना हो सकती है। चूंकि मिथ्यात्वी की करणी को भी मोक्ष की देश आराधिका मानी गई है। इसलिए कुछ लाभ तो हो सकता है, पर सम्यक्त्व के बिना पूरा लाभ नहीं हो सकता।

व्यवहार में भी आदमी चिंतन को इतना उदात्त बनाए, दृष्टिकोण को इतना उदार बनाए कि उसकी विशालता प्रकट हो जाए। एक चिंतन के द्वारा आदमी दुःखी बन जाता है तो एक चिंतन के द्वारा आदमी सुखी भी बन सकता है। आदमी का चिंतन कैसा है, यह महत्त्वपूर्ण बात होती है।

एक गरीब आदमी था। उसके पास एक फटा हुआ जूता था। वह भी गुम हो गया। वह नंगे पांव वाला हो गया। इस बात का उसे बहुत दुःख हो रहा था। एक दिन वह कहीं जा रहा था। मार्ग में उसने जैन साधु को देखा, जो नंगे पांव चल रहा था। उसने सोचा, जब ये भी बिना जूते के घूम रहे हैं तो मेरे पास जूता नहीं है इसमें कौनसी ऐसी खराब बात हो गई। मुझे भी कुछ अंश में सहज ही साधक बनने का मौका मिल गया। फिर आगे बढ़ा तो देखा, एक व्यक्ति के पावं नहीं हैं। सोचा, इसके तो पांव भी नहीं हैं। मेरे से ज्यादा दुःखी तो यह है। फिर भी यह तो शांत बैठा है और मैं एक जूते के अभाव में इतना दुःखी हो गया। इसकी अपेक्षा तो मैं बहुत सुखी हूं। बस चिन्तन बदला, दृष्टिकोण बदला, उस गरीब लड़के का दुःख भी चला गया।

जीवन में परिस्थितियां आ सकती हैं। उन परिस्थितियों में आदमी अपना चिंतन इतना उदात्त रखे कि वह दुःखी होने से बच जाए। अपने से बड़ों को देखेंगे तो लघुता का अनुभव होगा। अपने से छोटों को देखेंगे तो गरिमा का अनुभव होगा। आदमी यह सोचे कि लघुता हो या गरिमा, मैं अपने जीवन में दृष्टिकोण को सम्यक् रखते हुए साधना के क्षेत्र में विकास करने का प्रयास करता रहूं। मैं अपने विकास की गति में अवरोध न आने दूं। प्रगतिशील

आदमी शांत भाव से विरोधों, अवरोधों को पार करने का प्रयास करे और अपनी गतिमत्ता में कमी न आने दे।

धम्मपदकार ने ठीक कहा कि एक साधक की अथवा शीलवान आदमी की सुगन्ध देवों तक फैल जाती है यानी देवता भी साधु को नमस्कार करते हैं। जैन आगम उत्तराध्ययन में कहा गया है—

देवदाणवगंधव्वा, जक्खरक्खसकिन्नरा।
बंभयारिं नमंसंति, दुक्करं जे करंति तं।।१६/१६।।

उस ब्रह्मचारी को देव, दानव, गंधर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर, ये सभी उसको नमस्कार करते हैं, जो दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करता है।

प्राकृत साहित्य में यह भी कहा गया कि जो साधक आहार कम करता है यानी ऊनोदरी करता है, कम बोलता है यानी भाषा का संयम करता है, जो नींद भी कम लेता है, ज्यादा स्वाध्याय, ध्यान करता है और जिसके पास परिग्रह का संयम है यानी उपधि-उपकरण अल्प हैं, ऐसे साधक को देवता भी प्रणाम करते हैं।

हमारे धर्मसंघ में एक संत हुए हैं—मुनिश्री पृथ्वीराजजी स्वामी। वे परमपूज्य कालूगणी के शासनकाल में दिवंगत हो गए थे। इतिहास बताता है कि उनकी देवता सेवा किया करते थे। जैसे आदमी सेवा करता है, वैसे देवता भी आकर सेवा करते थे। जहां पवित्रता है, साधना है, वहां देवता भी आकृष्ट हो जाते हैं। वे प्रकट रूप में आएं या न भी आएं, किन्तु मेरा अनुमान है कि कई बार देव शक्तियां साधक लोगों के आस-पास रहती हैं। वे अदृश्य रूप में भी सेवा कर सकती हैं। देवता के आने या नहीं आने से साधना का कोई संबंध नहीं है। साधक को तो निष्काम भाव से, कर्म-निर्जरा के लिए, आत्मशुद्धि के लिए, संयम के लिए अपनी साधना को आगे बढ़ाना चाहिए। बस लक्ष्य उसका एकमात्र मोक्ष प्राप्ति रहे। संस्कृत साहित्य में कहा गया है—'मोक्षे चित्तं भवेत् तनुः' अर्थात् शरीर संसार में रहते हुए भी हमारा चित्त मोक्ष में लगा रहे, परमात्मा में लगा रहे या साधना में लगा रहे। साधक व्यक्ति को साधना की गहराई में पैठने का प्रयास करना चाहिए। उसमें साधना की तल्लीनता आनी

चाहिए। ज्यों-ज्यों साधना के वर्ष आगे बढ़ें, त्यों-त्यों साधना में और ज्यादा निर्मलता व परिष्कार का रूप उजागर होना चाहिए। ऋद्धि भले देवों के पास ज्यादा हो, पर साधना की ऋद्धि, आत्म-ऋद्धि एक साधु के पास विशेष होती है, बशर्ते कि साधु अपनी साधना के प्रति जागरूक रहे, अप्रमाद का अभ्यास करे। अप्रमाद का अभ्यास करते-करते साधना इतनी पुष्ट हो जाती है कि उसकी साधना औरों को भी प्रभावित करने वाली बन जाती है। एक साधक का व्यवहार भी संयम से ओतःप्रोत होना चाहिए। साधु के चलने में, बोलने में, सोने में, बैठने में, व्यवहार में, साधुता का दर्शन होना चाहिए। मैं साधु हूं यह भाव व्यक्त या अव्यक्त रूप में उसके भीतर रहना चाहिए। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया—

कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं, सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स।
जं काइयं माणसियं च किंचि, तस्संतगं गच्छइ वीयरागो।।३२/१९।।

सब जीवों के, और क्या देवताओं के भी जो कुछ कायिक और मानसिक दुःख है, वह काम भोगों की सतत अभिलाषा से उत्पन्न होता है। वीतराग उस दुःख का अन्त पा जाता है।

संसार में जितना भी दुःख है, वह काम की अनुवृद्धि से पैदा होने वाला है, कामना से उत्पन्न होने वाला है। इसलिए कामना को छोड़ दें तो साधना निर्मल बन जाएगी और साधना निर्मल होगी तो उसकी सुगंध देवों तक भी फैल सकती है। साधना को आगे से आगे बढ़ाने का और परिष्कृत करने का प्रयास करते रहें, यही काम्य है।

११

पथ में पाथेय

जैन वाङ्मय के प्रतिष्ठित आगम उत्तराध्ययन में कहा गया है–

अद्धाणं जो महंतं तु, अपाहेओ पवज्जई।
गच्छंतो सो दुही होई, छुहातण्हाए पीडिओ।।१९/१८।।

जो मनुष्य लम्बा मार्ग लेता है और साथ में संबल नहीं लेता, वह भूख और प्यास से पीड़ित होकर चलता हुआ दुःखी होता है।

एक राहगीर चलता है। उसके सामने अटवी का लम्बा मार्ग है। उस पथ को पार करने के बाद उसका गंतव्य आता है। परन्तु उसने साथ में पाथेय नहीं लिया, भोजन-पानी कुछ भी नहीं लिया। मार्ग में भोजन-पानी की उपलब्धि का अवकाश भी नहीं है। ऐसे पथ पर आगे बढ़ने वाला व्यक्ति भूख और प्यास से पीड़ित हो जाता है, कभी उसका प्राणान्त भी हो सकता है। एक दूसरा आदमी जो लम्बे मार्ग से आगे बढ़ता है। वह भी अटवी का मार्ग है, किन्तु उसके पास पाथेय है, पानी की व्यवस्था है। मार्ग में भूख लगने पर वह भोजन कर लेता है, प्यास लगने पर पानी पी लेता है। ऐसा व्यक्ति काफी सुविधा के साथ पथ को पार कर अपने गंतव्य को प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार धर्म की दृष्टि से बताया गया कि एक आदमी जब अगली गति में जाता है, तब धर्म का पाथेय नहीं होता है, तो उस आदमी को दुःखी होना पड़ सकता है। दूसरा आदमी धर्म का पाथेय लेकर आगे बढ़ता है, तो वह अगली गति में सुख-शांति से रहता है। इसलिए मनुष्य को विचार करना चाहिए कि मेरे पास पाथेय है या नहीं? यह मानव जीवन मुझे मिला है। उसमें मुझे आगे के

लिए संबल अथवा पाथेय की तैयारी करनी चाहिए। सामायिक की साधना करने वाला, अनुकम्पा की आराधना करने वाला व्यक्ति पाथेय तैयार कर लेता है। वह जब अगली गति में जाएगा तो वहां भी उसे सुख-शांति मिल सकेगी, सुविधा भी मिल सकेगी। परन्तु जिसमें अनुकम्पा का पाथेय नहीं है, सामायिक आदि की साधना नहीं है, जो निष्ठुर रहा है, हिंसक रहा है, पापी रहा है, वह व्यक्ति अगली गति में जाएगा तो उसे दुःखी होना पड़ सकता है। बौद्ध साहित्य के महान् ग्रन्थ धम्मपद में कहा गया है–

दीघा जागरतो रत्ति दीघं सन्तस्स योजनं।
दीद्यो बालानं संसारो सद्धम्मं अविजानतं।।५/१।।

जागनेवाले को रात लम्बी होती है। थके हुए के लिए योजन लम्बा होता है। सद्धर्म को न जाननेवाले मूढ़ों के लिए संसार (चक्र) लम्बा होता है।

धम्मपदकार ने बताया कि जिस व्यक्ति को रात में नींद नहीं आती है, उसके लिए रात लम्बी हो जाती है और जिसको अच्छी नींद आ जाती है, उसके लिए रात बहुत छोटी हो जाती है, आसानी से गुजर जाती है। मुश्किल से रात इसलिए पार होती है। क्योंकि नींद नहीं आ रही है। रात काटने का एक उपाय है–अच्छी नींद आ जाना अथवा आदमी धार्मिक साधना में इतना तल्लीन हो जाए कि रात उसको लम्बी न लगे। समय का लम्बा लगना और छोटा लगना भी सापेक्ष है। एक आदमी को लम्बा समय भी थोड़ा लगता है, पर एक आदमी को थोड़ा समय भी लम्बा लगता है। आदमी आराम में है तो लम्बा समय भी थोड़ा लगता है और कठिनाई में है तो थोड़ा समय भी लम्बा लगने लग जाता है। समय की लम्बाई और अल्पता वास्तविक भी होती है और अनुभूति के स्तर पर वह सापेक्ष भी होती है। हम जैनदर्शन की दृष्टि से विचार करें तो हमारी आत्मा बहुत छोटी भी बन सकती है यानी एक कुंथु में भी आत्मा समा सकती है और एक हाथी में भी वह आत्मा फैल सकती है। जब केवली समुद्घात होता है तो पूरे लोक में वह आत्मा फैल जाती है। आत्मा छोटी से छोटी भी है, बड़ी से बड़ी भी है। जागते हुए आदमी के लिए रात्रि लम्बी हो जाती है और सोए हुए आदमी के लिए रात्रि छोटी हो जाती है। थकान न हो तो आदमी लम्बा भी चल सकता है, किन्तु श्रांत आदमी के लिए

एक योजन चलना भी लम्बा होता है। इसी प्रकार जो अज्ञानी सद्धर्म को नहीं जानता है, उसके लिए संसार भी लम्बा हो जाता है। यदि संसार की लम्बाई को कम करना है तो उसे धर्म को समझना होगा, अनुकम्पा को जानना होगा, दया को जीवन में स्वीकार करना होगा, अहिंसा को आत्मसात् करना होगा, तब उसका संसार का पथ जो बहुत लम्बा होता है, वह छोटा हो सकता है और वह व्यक्ति जल्दी संसार के चक्र से मुक्त होकर मोक्षश्री का वरण कर सकता है। मनुष्य के लिए एक सम्बोध दिया गया कि अगर सम्यक् ज्ञान का अभाव है और चारित्र का अभाव है तो यह संसार उसके लिए लम्बा हो जाएगा और जीवन में चारित्र है, साधना है तो संसार छोटा भी हो जाएगा। एक अनुकम्पा की चेतना पुष्ट हो जाए तो एक बड़ा पाथेय आदमी के पास आ जाता है। ऐसा पाथेय जो अगली गति में भी काम आने वाला होता है।

हम धर्मशास्त्रों को सुनते हैं। उनमें कितनी अच्छी-अच्छी बातें आती हैं। उन बातों को हम कान का अतिथि बनाते हैं। यह बहुत अच्छी बात है, किन्तु कोई-कोई बात अगर हमारे जीवन में आ जाए, जीवनगत हो जाए तो एक सुन्दर पाथेय हमारे पास आ सकता है और वह पाथेय हमारे लिए कल्याणकारी, हमारी आत्मा का उद्धार करने वाला बन सकता है। जीवन में कभी गलतियां भी हो सकती हैं। गलतियां होना कोई बड़ी बात नहीं है, परन्तु उनको दोहराना नहीं चाहिए। आदमी को गलतियों का परिष्कार करना चाहिए। अपनी आदतों में परिष्कार लाना चाहिए। शिक्षा की दो बातें बताई गईं—आदमी को तेज गुस्से की स्थिति में कोई निर्णय नहीं लेना चाहिए। उस समय का लिया गया निर्णय गलत हो सकता है। इसी प्रकार अति खुशी में आदमी को कोई वचन नहीं देना चाहिए, जबान नहीं देनी चाहिए। क्योंकि भावुकता में कभी आदमी ऐसा वचन दे देता है, जिसको पूरा करना मुश्किल हो जाता है। आदमी वचन दे तो सोच समझकर देना चाहिए। आदमी को प्रियता की स्थिति आने पर अति हर्ष में नहीं जाना चाहिए और कोई अप्रियता की स्थिति आ जाए तो ज्यादा उद्वेग में नहीं जाना चाहिए। आदमी को समता का अभ्यास करना चाहिए। समता का अभ्यास बड़ी साधना है।

१२

एकला चलो रे

बौद्ध साहित्य के महान् ग्रन्थ धम्मपद में कहा गया है–

चरञ्चे नाधिगच्छेय्य सेय्यं सदिसमत्तनो।
एकचरियं दल्हं कयिरा, नत्थि बाले सहायता।।५/२।।

विचरण करते यदि अपने से श्रेष्ठ या अपने समान व्यक्ति को न पाए तो दृढ़ता के साथ अकेला ही विचारे। मूर्ख से मित्रता अच्छी नहीं।

आदमी समूह में रहता है, समूह में साधना करता है। जब उसे यह लगे कि अब कोई मुझे सहायता देने वाला नहीं है, न मेरे बराबर का कोई साधक मेरे साथ है, न मेरे से कोई बड़ा साधक मेरे साथ है। ऐसी स्थिति में साधक आदमी को क्या करना चाहिए? उस संदर्भ में एक दिशा निर्देश दिया गया–'एकला चलो रे' अगर अपने समान या अपने से बड़ा कोई सहायक न मिले तो फिर आदमी को अकेला चलना मंजूर करना चाहिए। मूर्ख या अज्ञानी को साथ में नहीं लेना चाहिए। संगत अच्छे आदमी की करें, सहायता लें तो अच्छे आदमी की लें, अच्छा न मिले तो बुरे को अपना मित्र या अपना सहायक न बनाएं। उत्तराध्ययन सूत्र में भी ऐसी ही बात मिलती है–

न वा लभेज्जा निउणं सहायं, गुणाहियं वा गुणओ समं वा।
एक्कोवि पावाइ विवज्जयंतो, विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो।।३२/५।।

यदि अपने से अधिक गुणवान या अपने समान निपुण सहायक न मिले तो वह पापों का वर्जन करता हुआ, विषयों में अनासक्त रहकर अकेला ही विहार करे।

सामूहिक साधना का महत्त्व है, परन्तु वह तब उचित है, जब योग्य व्यक्तियों का साथ मिले। व्यक्ति योग्य होता है तो सुंदर पथदर्शन भी दे सकता है और विपत्ति में सहायता भी कर सकता है। यदि व्यक्ति योग्य नहीं होता है तो वह विपत्ति में सहायता भी नहीं कर सकता और योग्य पथदर्शन भी नहीं दे सकता। आदमी को चाहिए कि वह स्वयं के सामर्थ्य का विकास करे और यथावश्यक दूसरों से सहायता भी ग्रहण करता रहे। जहां समाज है, वहां हितैषिता की भावना होनी चाहिए, न कि स्वार्थपूर्ण दृष्टिकोण होना चाहिए।

तीन मित्र थे। उनमें एक राजकुमार था और दो वणिक्पुत्र थे। तीनों साथ में पढ़ते, साथ में रहते। एक बार दोनों वणिक्पुत्र राजकुमार से बोले—तुम तो कभी राजा बन जाओगे। क्या राजा बन जाने के बाद भी हमें याद रखोगे? राजकुमार बोला—तुम मेरे अच्छे मित्र हो। जब कभी मौका आएगा, तुम दोनों को एक-एक वरदान दूंगा, जो तुम मांगोगे। समय बीता, राजा का देहावसान हो गया। वे दोनों वणिक्पुत्र आए और बोले—अब हमें वरदान दीजिए। राजा—आप क्या वरदान मांगना चाहते हैं? दोनों वणिक्पुत्र बोले—हम एक-एक दिन का राज मांगना चाहते हैं। राजा ने कहा—तथास्तु। अगले रोज एक दिन का राजा पहले वणिक्पुत्र को बना दिया गया। उसने राजा बनते ही व्यापारियों आदि पर जितना कर था उसको दुगुना कर दिया। जो कर्मचारी थे, उनका वेतन आधा कर दिया। उसने सोचा, मैं एक दिन में राज्य का भंडार भर दूंगा। एक दिन बाद उसे पद से उतार दिया गया। उसके साथ इतना निकृष्ट व्यवहार किया गया कि द्वारपाल ने हाथ पकड़कर उसको अपमान के साथ बाहर निकाल दिया। दूसरे दिन दूसरे वणिक्पुत्र को एक दिन का राजा बना दिया। उसने गद्दी पर बैठते ही जिनका जितना वेतन था, उसको दुगुना कर दिया और कर को आधा कर दिया। जनता के हित का काम किया। एक दिन के बाद उसे पद से मुक्त होना ही था, किन्तु जनता ने बड़े सम्मान के साथ उसको घर तक पहुंचाया।

आदमी को दूसरों का हित करने का प्रयास करना चाहिए। भले कोई राजा हो या सामान्य आदमी, जितना संभव हो सके किसी का कल्याण करे, परन्तु किसी का बुरा न करे। कल्याण करने के लिए अनुकम्पा की चेतना का

विकास करना आवश्यक है। जितनी अनुकम्पा की चेतना आदमी में पुष्ट होती है, वह उतना दूसरों का बुरा करने से बचता है और भला करने का प्रयास भी करता है।

काशी नरेश और कौशल नरेश का प्रसंग आता है। कौशल नरेश बड़ा परोपकार की भावना रखता था। बड़ा दान-पुण्य करता, दूसरों के दुःखों का हरण करता। काशी नरेश ने कौशल नरेश की प्रशंसा सुनी, किन्तु वह उसे सहन नहीं कर सका। उसने कौशल नरेश पर आक्रमण कर दिया। कौशल नरेश वहां से भाग गया। काशी नरेश ने सोचा कि यदि कौशल नरेश जीवित रहेगा तो फिर कभी वह हमारे ऊपर आक्रमण कर देगा। इसलिए कौशल नरेश को पकड़ना चाहिए। काशी नरेश ने घोषणा की—कोई भी व्यक्ति जीवित या मरे हुए पूर्व कौशल नरेश को मेरे पास लाएगा, उसे हजार स्वर्ण मुद्राएं दी जाएंगी। एक राहगीर जा रहा था। उसका व्यापार ठप्प हो गया था। वह गरीबी का जीवन जी रहा था। जंगल में ही उसकी पूर्व कौशल नरेश से मुलाकात हुई। वह आश्वस्त हुआ कि मुझे आज कुछ जरूर मिल जाएगा। चूंकि व्यापारी का सुना हुआ था कि कौशल नरेश बड़ा दयालु राजा है। कौशल नरेश ने कहा—मेरे पास देने के लिए कुछ नहीं है, पर एक बात है, काशी नरेश ने यह घोषणा की है कि जो कोई कौशल के पूर्व नरेश को मेरे पास लाएगा, उसे हजार स्वर्ण मुद्राएं दूंगा। तुम मुझे पकड़कर वहां ले जाओ, तो तुम्हें हजार स्वर्ण मुद्राएं मिल जाएंगी। देखिए, कितनी दयालुता कि मुझे पकड़ाकर भी तुम पैसा प्राप्त कर लो। राहगीर कौशल नरेश को साथ लेकर आया और काशी नरेश से कहा—यही है कौशल नरेश। आप इसे पकड़ लो और मुझे हजार स्वर्ण मुद्राएं दे दो। व्यापारी को हजार स्वर्ण मुद्राएं मिल गईं। खैर.....बात का सार इतना है कि कौशल नरेश ने स्वयं को विपत्ति में डालकर भी दूसरों का भला करने का प्रयास किया। यह है अनुकम्पा की भावना। अनुकम्पा दो प्रकार की होती है—लोकोत्तर अनुकम्पा और लौकिक अनुकम्पा। किसी की आत्मा का कल्याण करना लोकोत्तर अनुकम्पा है और किसी गृहस्थ की देह संबंधी सेवा करना लौकिक अनुकम्पा है। लौकिक अनुकम्पा का अपना महत्त्व है और लोकोत्तर अनुकम्पा का अपना मूल्य है।

मूल बात है कि आदमी को दूसरा कोई साथी न मिले तो अकेले चलने का पथ स्वीकार करना चाहिए, किन्तु बुरे आदमी की संगत नहीं करनी चाहिए। बुरे आदमी की सहायता की इच्छा भी नहीं करनी चाहिए। हमारी दुनिया में सज्जन आदमी भी मिलते हैं और बुरे आदमी भी मिल जाते हैं। मनुष्य जहां रहे, जिस समूह में रहे, वहां सौहार्द के साथ रहे, अहिंसा के साथ रहे, अनुकम्पा के साथ रहे और मैत्री के साथ रहे। मैत्री भावना में जो आनन्द है, अनुकम्पा में जो आनन्द है, वह आनन्द काम-क्रोध की वृत्तियों में नहीं मिलता।

संस्कृत साहित्य में कहा गया—'कामक्रोधौ मनुष्याणां खादितारौ वृकाविह' अर्थात् काम और क्रोध जंगली भेड़िए के समान हैं। ये आदमी के गुणों को खा जाने वाले होते हैं। इसलिए आदमी अपने गुणों की रक्षा करने के लिए क्रोध की वृत्ति से बचने का प्रयास करे। लड़ाई-झगड़े में रहे या दुर्गुणी आदमी के साथ रहे, इसकी अपेक्षा तो अकेले रहना ज्यादा अच्छा होता है। गर्गाचार्य के साथ कुछ ऐसा ही हुआ था। उन्हें शिष्य तो मिले, परन्तु विनीत नहीं मिले। जब किसी शिष्य को किसी काम के लिए कहा जाता तो वह कहता—मैं ही आपको दिखता हूं क्या? किसी दूसरे को कह दो। गर्गाचार्य अपने शिष्यों को छोड़कर अकेले परिव्रजन करने लग गए। अच्छे व्यक्ति न मिलें तो बुरों के साथ रहने की अपेक्षा, बुरों की संगति की अपेक्षा तो अकेले रहना कहीं ज्यादा अच्छा होता है।

धम्मपद और उत्तराध्ययन में इस प्रकार के अनेक मार्गदर्शन दिए गए हैं कि आदमी को कैसे चलना चाहिए, क्या करना चाहिए? जीवन है तो वहां आमतौर से समूह की भी अपेक्षा होती है। अकेला जीना बड़ा मुश्किल होता है, किन्तु जो साधक हैं, उनमें अकेले रहने का भी अभ्यास होना चाहिए और समूह में रहें तो निर्लेप रहें। विशेष साधक एकाकी साधना करते हैं। वे अकेले रहकर अपनी आराधना करते हैं। संघ में रहने वाले साधुओं के मन में भी अकेले साधना करने की इच्छा हो जाए तो आज्ञा मिलने पर वे एकाकी साधना कर सकते हैं। कभी गुरु के मन में भी एकाकी साधना करने की भावना आ जाए तो गुरु भी एकाकी साधना कर सकते हैं, परन्तु संघ की सुव्यवस्था उन्हें

करनी होती है। किसी योग्य शिष्य को उत्तराधिकार सौंप देने के बाद आचार्य भी एकाकी साधना का प्रयोग कर सकते हैं और अपनी विशेष आराधना-साधना में लग सकते हैं। सामान्यतया आदमी संघ में साधना करे और संघ में गुरु आदि के निर्देशन में रहे। क्योंकि गुरु पर शिष्यों का कल्याण करने का दायित्व होता है। परमपूज्य गुरुदेव तुलसी ने स्तुति गीत में सुन्दर कहा—

धरमाचारज! मुझ तारो, मैं लीन्हो शरण तुम्हारो।
है और न कोई चारो, धरमाचारज! मुझ तारो।।

१३

दुःख का मूल : राग-द्वेष

आर्हत् वाङ्मय के प्रतिष्ठित आगम उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है–

रागो य दोसो वि य कम्मबीयं, कम्मं च मोहप्पभवं वयंति।
कम्मं च जाईमरणस्स मूलं, दुक्खं च जाईमरणं वयंति।।३२/७।।

राग और द्वेष कर्म के बीज हैं। कर्म मोह से उत्पन्न होता है और वह जन्म-मरण का मूल है। जन्म मरण को दुःख कहा गया है।

आदमी के भीतर राग और द्वेष–ये दो वृत्तियां होती हैं। इनके कारण आदमी पापकर्म का बंध करता है। ये ही पापकर्मों के मूल कारण हैं और राग-द्वेष ही जन्ममरण का आधार है। जन्ममरण की परम्परा अपने आपमें दुःख है। मनुष्य के मन में दुःख-मुक्ति की भावना रहती है। उसके लिए वह प्रयास भी करता है। दुःख-मुक्ति दो प्रकार की होती है–एक तात्कालिक दुःख-मुक्ति और दूसरी शाश्वत दुःख-मुक्ति। तात्कालिक दुःख-मुक्ति सुविधा से की जा सकती है, जैसे गर्मी के मौसम में पंखा चला लिया, ए.सी. का प्रयोग कर लिया तो गर्मी से जो कष्ट हो रहा था, उससे राहत मिल जाती है। सर्दी के मौसम में गर्म कपड़े पहन लिये, कमरे में हीटर चला दिया तो सर्दी से राहत मिल सकती है। शरीर में कुछ वेदना हुई और दवा का प्रयोग कर लिया तो वेदना से भी मुक्ति मिल सकती है। पर ये कठिनाइयां एक बार भले दूर हो जाएं, बाद में फिर पैदा हो जाती हैं। चूंकि ये तात्कालिक दुःख-मुक्ति के उपाय हैं। शाश्वत दुःख-मुक्ति मिलने के बाद हमेशा बनी रहती है, जिसे अव्याबाध कहा जा सकता है, एकान्त दुःखमुक्ति कहा जा सकता है। उसके

लिए अपेक्षा है कि व्यक्ति राग-द्वेष मुक्ति का अभ्यास करे, विकारों को निराकृत करने का प्रयास करे। बौद्ध साहित्य के महान् ग्रन्थ धम्मपद में कहा गया है—

ममेव कतमञ्ञन्तु गिही पब्बजिता उभो।
ममेवातिवसा अस्सु किच्चाकिच्चेसु किस्मिचि।
इति बालस्स सङ्कप्पो इच्छा मानो च वड्ढति।।५/१५।।

गृही और प्रव्रजित दोनों मेरा ही किया मानें, सभी प्रकार के काम में वे मेरे ही अधीन रहें—ऐसा मूर्ख का संकल्प होता है। जिससे उसकी इच्छा और अभिमान बढ़ते हैं।

एक अज्ञानी आदमी सोचता है कि सब लोग मेरे किये हुए को ठीक मानें चाहे गृहस्थ हों या साधु हों। सब मेरे अधीन रहें, ऐसी भावना एक अज्ञानी या कषायी यानी राग-द्वेषयुक्त आदमी के मन में आती है। उसका अहंकार और इच्छा बढ़ जाती है। जहां कामना का आधिक्य है, अहंकार का प्राबल्य है, तो मानना चाहिए वहां राग-द्वेष के भाव हैं। जिसमें अहंकार होता है, वह दूसरों के अधीन रहना नहीं चाहता। वह दूसरों को अपने अधीन करना चाहता है। दूसरों को अधीन रखने के लिए पहले स्वयं पर अनुशासन करना भी आवश्यक होता है। आदमी पहले स्वयं पर शासन करे तो फिर उसमें दूसरों पर अनुशासन करने की अर्हता हासिल हो सकती है। एक बच्चा घूमते-घूमते किसी आश्रम में चला गया। एक बाबा वहां रहता था। बच्चा भूखा था। बाबा ने भोजन दे दिया, पानी पिला दिया। बच्चा अच्छा लग रहा था। बाबा ने बड़े प्रसन्न मन से पूछा—बेटे! हमारा चेला बन जाओगे? लड़का होशियार था। उसने पूछा—बाबाजी! चेला क्या होता है?

बाबाजी—एक चेला होता है और एक गुरु होता है।

लड़का—बाबाजी! दोनों का काम क्या होता है?

बाबाजी—बेटे! गुरु का काम है हुक्म देना और चेले का काम है हुक्म को मानना।

लड़का—बाबाजी! मैं सोचकर जवाब दूंगा।

कुछ देर बाद फिर बाबाजी ने पूछा—सोच लिया?

लड़का—बाबाजी! सोच लिया।

बाबाजी—बोलो, क्या सोचा?

लड़का—बाबाजी! गुरु बनाओ तो मैं बन जाऊं, चेला तो नहीं बनूंगा। गुरु बनना आसान काम नहीं है। पहले अच्छा चेला बनो, अच्छा शिष्य बनो तो अच्छा गुरु बनने की अर्हता प्राप्त हो सकती है। जो स्वयं अच्छा शिष्य नहीं बना है या स्वयं पर स्वयं का अनुशासन नहीं किया है वह व्यक्ति अच्छे शिष्यों को रख नहीं सकता या गुरुता की अच्छी अर्हता उसमें आ नहीं सकती। धम्मपदकार ने ठीक कहा कि जो अज्ञानी आदमी होता है, उसमें अहंकार बढ़ जाता है और इच्छा-लालसा भी बढ़ जाती है। राग और द्वेष का प्राबल्य है तो फिर प्राणी मात्र के प्रति मैत्री भाव में भी कमी आ सकती है। कोई हमारा बुरा कर दे उसके प्रति भी वैर भाव न जागे, दुश्मनी का भाव न जागे तो मानना चाहिए मैत्री भाव या अवैर भाव पुष्ट हुआ है और अभ्यास करने से ऐसी चेतना का निर्माण भी हो सकता है।

४१

निन्दा और प्रशंसा में सम रहें

बौद्ध साहित्य के महान् ग्रन्थ धम्मपद में कहा गया है–

सेलो यथा एकघनो वातेन न समीरति।
एवं निन्दापसंसासु न समिञ्जन्ति पंडिता।।६/६।।

जैसे ठोस पहाड़ हवा से नहीं डिगता, वैसे ही पण्डित निन्दा और प्रशंसा से नहीं डिगते।

जिस प्रकार तेज तूफान आ जाने पर भी मजबूत पहाड़ डिगता नहीं, गिरता नहीं, इसी प्रकार आदमी की चेतना इतनी पुष्ट होनी चाहिए कि चाहे निन्दा हो या प्रशंसा हो, आदमी डिगे नहीं, डरे नहीं, ज्यादा फूले भी नहीं। अपने संकल्प के साथ लक्ष्य की दिशा में आगे बढ़ने का प्रयास करता रहे। जैन वाङ्मय के प्रतिष्ठित आगम उत्तराध्ययन में भी ऐसी ही बात मिलती है–'समो निन्दापसंसासु' अर्थात् साधक आदमी को निन्दा और प्रशंसा में सम रहना चाहिए। व्यक्ति कार्य करता है। कई बार उसकी बिना मतलब भी निन्दा हो जाती है, किन्तु आलोचना, निन्दा से डरना नहीं चाहिए। ठीक दृष्टि से काम करना चाहिए, फिर निन्दा हो तो हो, आलोचना करने वाले करें। अगर हमने ठीक दिशा में कदम आगे बढ़ाने का प्रयास किया है तो कभी ऐसा समय भी आएगा, जब निन्दा करने वाले भी प्रशंसक बन जाएंगे, समर्थक बन जाएंगे।

किसी भी क्षेत्र में आदमी आगे बढ़ना चाहे तो परिश्रम की अपेक्षा होती है, शक्ति को नियोजित करने की अपेक्षा होती है। परिश्रम के बिना भाग्य से तो कभी-कभार कुछ मिल जाए, मूलतः परिश्रम आधारित सफलता होती है।

किसान का बेटा था। वह आलसी स्वभाव का था। न खेत में जाता, न और कोई काम करता, घर में सोया रहता। सोया-सोया बीमार भी हो गया। पिता ने सोचा कि इसे परिश्रमी कैसे बनाया जाए। एक दिन पिता-पुत्र बैठे थे। स्वास्थ्य के बारे में बात चली। बेटा कुछ हताश हो गया कि मेरा स्वास्थ्य भी कुछ कमजोर रहने लग गया और मैं कोई काम भी नहीं करता, मेरा क्या होगा? पिता ने कहा—बेटा! मैं तुम्हें एक उपाय बताता हूं, उससे सब ठीक हो जाएगा। बेटे ने पूछा—पिताजी! वह कौनसा उपाय है? पिता—हमारे गांव के बाहर एक तालाब है। तुम रोज सुबह वहां जाया करो। जिस दिन तुम्हें हंस का दर्शन हो जाएगा, उसके बाद तुम्हारी समस्याओं का समाधान हो जाएगा। लड़के ने उस हंस-दर्शन के लोभ से सुबह-सुबह तालाब के पास जाना शुरू किया। उसका जाना-आना लगभग चार किलोमीटर हो जाता। दो महीने बीत गए, किन्तु उसे हंस कभी नहीं मिला। वह बोला—पिताजी! दो महीने हो गए मुझे रोज तालाब तक जाते, किन्तु मुझे हंस का दर्शन तो नहीं हुआ। हां, मेरा स्वास्थ्य जरूर कुछ अच्छा हो गया। पिता ने कहा—बेटा! इस परिश्रम का नाम ही हंस है। तुमने सवेरे घूमना शुरू कर दिया। इसलिए तुम्हारे स्वास्थ्य में सुधार आ गया। तुम श्रम के मंत्र को पकड़ लोगे तो तुम्हें सफलता भी मिल जाएगी।

हालांकि भाग्य का भी योग होता है, परन्तु हम पुरुषार्थ के मंत्र को पकड़ें, भाग्य है वैसा है। हम उसकी चिन्ता न करें। हमारे लिए करणीय है तो पुरुषार्थ है। हम पुरुषार्थ करेंगे तो हमें सफलता मिलने की संभावना भी बन सकेगी।

१५

गहराई में निर्मलता

आर्हत् वाङ्मय में उक्कित्तणं नाम से एक स्तोत्र है, जिसे प्रचलित भाषा में लोगस्स कहा जाता है। चूंकि उसका आदि पद लोगस्स है। कई बार आदि पद के नाम से ग्रन्थ या स्तोत्र का नाम प्रसिद्धि को प्राप्त हो जाता है। भक्तामर आदि शब्द है। इसलिए उसका प्रसिद्ध नाम हो गया भक्तामर। मूल नाम कुछ होता है और गौण नाम मुख्य बन जाता है। लोगस्स का भी मूल नाम तो उक्कित्तणं प्राप्त होता है, परन्तु लोगस्स जितना प्रसिद्ध है संभवतः उतना उक्कित्तणं मुख पर आगमन नहीं करता। उसके अन्तिम श्लोक में तीन विशेषताएं बताई गईं—'चंदेसु निम्मलयरा' अर्थात् वे चन्द्रों से भी ज्यादा निर्मल होते हैं। 'आइच्चेसु अहियं पयासयरा' अर्थात् सूर्यों से भी अधिक प्रकाश करने वाले होते हैं और तीसरी बात बताई, 'सागरवरगंभीरा' अर्थात् वे सागर के समान गंभीर होते हैं। प्रकृति की तीन चीजों को प्रयोग में लिया गया और इन तीन महत्त्वपूर्ण पदार्थों के साथ तीर्थंकरों की, सिद्धों की तुलना ही नहीं की गई, अपितु उनसे भी ज्यादा अतिशायित्व वाला उन्हें बताया गया है। उनकी एक विशेषता गंभीरता होती है। यह जीवन का एक बड़ा गुण है। आदमी गहराई में जाए। ज्यादा गहराई में न भी जा सके, किन्तु थोड़ा बड़ा हो जाए, कुछ अध्ययन हो जाए, समझ शक्ति बढ़ जाए तो फिर उसका गहराई में प्रवेश भी होना चाहिए, गंभीरता जीवन में आनी चाहिए। गंभीरता की वृत्ति जिस आदमी की हो जाती है, उसके चिन्तन में गहराई आ जाती है, उसके अध्ययन में भी गहराई आती है। बौद्ध साहित्य के महान् ग्रन्थ धम्मपद में कहा गया—

यथापि रहदो गम्भीरो विप्पसन्नो अनाविलो।
एवं धम्मानि सुत्वान, विप्पसीदन्ति पण्डिता।।६/७।।

जैसे गहरा जलाशय स्वच्छ और निर्मल होता है। वैसे ही धर्म को सुनकर पण्डित लोग शुद्ध हो जाते हैं।

जिस प्रकार गहरा जलाशय स्वच्छ पानी वाला होता है। उसमें निर्मलता होती है। इसी प्रकार जो पण्डित लोग हैं, वे धर्म की वाणी को सुनकर विशेष प्रसन्नता का अनुभव करते हैं और वे धर्म की वाणी का श्रवण कर अपनी निर्मलता को भी बढ़ाने का प्रयास करते हैं। गंभीरता और निर्मलता में काफी संबंध है। अगर गंभीरता है तो जीवन में निर्मलता भी आती है और निर्मलता है तो गंभीरता को भी पुष्ट होने का मौका मिल सकता है। एक साधक के लिए अपेक्षित है कि वह गहरे में जाने का प्रयास करे। हम ऊपर-ऊपर रह जाते हैं तो कुछ ऊपर की चीजें तो मिल सकती हैं, किन्तु गहरे में जाते हैं तो कुछ महत्त्वपूर्ण चीजें भी हमें प्राप्त हो सकती हैं। वैसे रत्न प्राप्त हो सकते हैं जिन्हें पाना कुछ मुश्किल होता है और उसके लिए गहराई में पैठना अपेक्षित होता है। एक साधु का जीवन साधनामय होता है अथवा होना चाहिए। उसके चिन्तन में, उसके व्यवहार में गंभीरता झलकनी चाहिए। कुछ लोग विनोदप्रिय होते हैं, परन्तु साधक में छिछला विनोद करने की वृत्ति नहीं आनी चाहिए। विनोद भी हो तो स्तर का हो। जो व्यक्ति ज्यादा हंसी-मजाक में रस लेता रहता है, उसे फिर गहराई में जाने का मौका नहीं मिलता। इसलिए विचार यह करना चाहिए कि मेरा समय किसमें बीते? छिछली या सतही चीजों में ही मेरा समय बीते या गहराई में जाकर कुछ प्राप्त करने का प्रयास किया जाए। आदमी का संकल्प बन जाए तो वह गहराई में जा सकता है। संस्कृत साहित्य में कहा गया—

मक्षिका व्रणमिच्छन्ति, धनमिच्छन्ति पार्थिवा।
नीचाः कलहमिच्छन्ति, शान्तिमिच्छन्ति साधवः।।

मक्खी व्रण को चाहती है, राजा धन को चाहता है। नीच व्यक्ति कलह को चाहता है और साधु शान्ति को चाहता है।

मक्खी गंदगी पर बैठती है। जहां कहीं व्रण मिले वहां जाकर बैठ जाती है। इसका मतलब मक्खी का ध्यान गंदगी में सिमट गया। हालांकि मक्खी

अच्छी चीजों पर भी बैठती है। हम लोग आहार के लिए बैठते हैं। हमारे साधु-साध्वियां भोजन को उद्घाटित करते हैं तो वहां भी मक्खियां आकर बैठ जाती हैं। मक्खियां मात्र व्रण को ही नहीं देखतीं, अच्छी चीजों पर जाकर भी बैठती है, पर कवि ने कहा कि सामान्यतया मक्खियां व्रण को खोजती हैं। राजा लोग धन को चाहते हैं। जो नीच प्रकृति के लोग हैं, वे कलह, झगड़े में रस लेते हैं, अनावश्यक ही झगड़ा कर लेते हैं। जो साधु लोग हैं, सज्जन लोग हैं, वे शान्ति की कामना करते हैं, शांति का प्रयास करते हैं। जिस तरीके से शांति मिले, वह तरीका अपनाने का अभ्यास करते हैं। जो आदमी दूसरों की आशातना नहीं करता और अनुकम्पापूर्ण व्यवहार करता है, उसमें सज्जनता का दर्शन होता है। जहां अनुकम्पा है, वहां सज्जनता है, संतता है और जहां निरनुकम्पता है, निष्ठुरता है, वहां दुर्जनता है। दूसरों के प्रति अनुकम्पा का व्यवहार, शालीनतापूर्ण व्यवहार है, वह साधुता का लक्षण होता है।

एक संत भिक्षा के लिए जा रहा था। उसने मार्ग में देखा कि एक युवक दिशाओं को प्रणाम कर रहा था। पूर्व दिशा को प्रणाम, पश्चिम दिशा को प्रणाम, उत्तर दिशा को प्रणाम, दक्षिण दिशा को प्रणाम, ऊर्ध्व दिशा को प्रणाम, अधोदिशा को प्रणाम। संत ने युवक से पूछा—भैया! दिशाओं को प्रणाम करने से तुम्हें क्या सीख मिलती है?

युवक—महात्मन्! इतना तो मैं नहीं जानता। मुझे तो किसी ने बताया था कि दिशाओं को प्रणाम करना चाहिए। इसलिए मैं दिशाओं को प्रणाम कर रहा हूं।

संत ने कहा—पूर्व दिशा को प्रणाम करने से तुम यह शिक्षा ग्रहण करो कि हमें अपने पूर्वजों का सम्मान करना चाहिए। गृहस्थों में जैसे पिता, दादा, पड़दादा आदि पूर्वज हैं, वैसे ही साधुओं की परम्परा में हमारे पूर्ववर्ती आचार्य हुए हैं, वे हमारे पूर्वज हैं। अपने पूर्वजों के प्रति सम्मान का भाव रखना, उनका यशोगान करना, यह वास्तव में पूर्व दिशा को प्रणाम होता है। पश्चिम दिशा को प्रणाम करने का मतलब है अपने पीछे वालों के प्रति भी शालीनता रखना यानी पिता अपने पुत्रों के प्रति भी शालीनता या उचित सम्मान का व्यवहार करे। साधु-संस्था में अपने से छोटे साधु-साध्वियों के प्रति भी उचित सम्मान

का व्यवहार करे, यह पश्चिम दिशा को प्रणाम करने का तात्पर्य होता है। युवक सुनता जा रहा था। संत ने आगे कहा—उत्तर दिशा को प्रणाम करने का मतलब है अपने मित्र आदि के प्रति शालीनतापूर्ण व्यवहार करना। दक्षिण दिशा को प्रणाम करने का मतलब है अपने प्राध्यापकों को अपने अनुकूल बनाना। उर्ध्व दिशा को प्रणाम करने का मतलब है अपने धर्मगुरु के प्रति श्रद्धा का भाव रखना, सम्मान का भाव रखना और अधोदिशा को प्रणाम करने का मतलब है अपने नौकर आदि के प्रति भी वत्सलता, अनुकम्पापूर्ण व्यवहार करना। उनकी भी अपेक्षाओं को समझना, उनको बार-बार नहीं झिड़कना। सारी बात का सार है कि जीवन में अनुकम्पा आ जाए। आदमी दूसरों का असम्मान न करे, दूसरों के साथ अशालीन व्यवहार न करे, अनाशातनापूर्ण व्यवहार करे और पूज्यों के प्रति परम सम्मान की भावना रखे। जो साधु पुरुष होते हैं, वे शांति को चाहते हैं। शान्त सहप्रवास करने का प्रयास करना उनका कर्तव्य होता है। वे वीर पुरुष महान् पथ के प्रति समर्पित होते हैं। वे अपने जीवन को वास्तव में अध्यात्म के लिए अर्पित कर देते हैं। कष्ट आएं तो उन्हें भी झेलना उनका धर्म है और वे कष्टों को झेलते हुए भी अपने लक्ष्य की ओर आगे बढ़ते हैं अथवा उन्हें आगे बढ़ते रहना चाहिए। साधना के क्षेत्र में गुरु की भी व्यवस्था होती है। हमारे धर्मसंघ में जो व्यवस्था है, उसमें आचार्य एक ही निर्धारित होते हैं। अनेक आचार्य यहां मान्य नहीं किए गए। एक आचार्य को ही सर्वाधिकार सम्पन्न बना दिया गया। यह तेरापंथ की व्यवस्था है, परम्परा है और विधान है। यह विधान ढाई सौ वर्ष से भी ज्यादा समय से चलता आ रहा है।

शिष्य और गुरु का संबंध होता है। गुरु कभी अप्रसन्न हो जाएं तो उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। जल्दी से जल्दी गुरु को प्रसन्न करने का प्रयास करना चाहिए। लम्बे काल तक गुरु की अप्रसन्नता टिकनी नहीं चाहिए। शिष्यों का धर्म होता है कि वे गुरु के पास जाएं और जिस कारण से गुरु अप्रसन्न हुए हैं उस कारण को निवारित करने का प्रयास करें। गुरु की अप्रसन्नता उपेक्षणीय नहीं होती। शास्त्रकार कहते हैं कि आचार्य की अप्रसन्नता कहीं अबोधि का कारण न बन जाए। इसलिए आचार्य की आशातना से बचना चाहिए। आचार्यों का धर्म होता है कि वे अपने शिष्यों को आध्यात्मिक पोषण दें और उनकी

समस्याओं पर ध्यान केन्द्रित कर यथासंभव औचित्य के साथ उनकी समस्याओं का समाधान करने का प्रयास करें। इस प्रकार शिष्य और गुरु का एक अन्योन्य संबंध होता है, एक आध्यात्मिक संबंध होता है। गुरु महान् होते हैं तो शिष्य भी कितने महान् हैं जो गुरु के प्रति समर्पित होते हैं और बड़े निष्काम भाव से गुरु की सेवा करते हैं। ऐसे शिष्यों से तो कई बार गुरुओं को भी बड़ा आलम्बन मिलता है।

धम्मपदकार ने कहा कि जैसे जो जलाशय गहरा होता है उसका पानी स्वच्छ होता है। वैसे ही जो साधक गहरा होता है, उसमें निर्मलता निष्पन्न हो जाती है। व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास करने का प्रयास करे। व्यक्तित्व के विकास में भी एक बड़ा सूत्र है—जीवन में करुणा का विकास कर लेना। आदमी में करुणा का विकास हो जाता है तो कितने-कितने पापों से उसका बचाव हो जाता है। फिर वह व्यक्ति हिंसा, झूठ, चोरी, धोखाधड़ी, झगड़ा, कलह आदि पापों से बच जाता है। यह काम्य है कि आदमी के भीतर करुणा की चेतना का विकास हो जाए, जिससे जीवन में गहराई आ जाए और गहराई के साथ निर्मलता भी। उक्कित्तणं में बहुत सुन्दर कहा गया कि हमारे तीर्थंकर जो सिद्ध हो गए हैं, वर्तमान में सिद्ध हैं, वे चन्द्रों से भी ज्यादा निर्मल हैं, सूर्यों से भी ज्यादा प्रकाश करने वाले हैं और सागर के समान गंभीर हैं। इस निर्मलता, प्रकाशवत्ता और गंभीरता का हमारे में विकास हो जाए तो व्यक्तित्व का निर्माण तो हो ही जाएगा, व्यक्तित्व निखार को भी प्राप्त हो जाएगा।

१६

मुख आत्मा की ओर

धार्मिक, प्रज्ञावान और शीलवान व्यक्ति कौन होता है? इस संदर्भ में बौद्ध साहित्य के महान् ग्रन्थ धम्मपद में कहा गया—

न अत्तहेतु न परस्स हेतु,
न पुत्तमिच्छे न धनं न रट्ठं।
न इच्छेय्य अधम्मेन समिद्धिमत्तनो,
न सीलवा पञ्ञवा धम्मिको सिया।।६/९।।

जो अपने लिए या दूसरों के लिए पुत्र, धन और राज्य नहीं चाहता और न अधर्म से अपनी उन्नति चाहता है, वही शीलवान, प्रज्ञावान और धार्मिक है।

तीन एषणाएं बताई गई हैं—पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा। आदमी के मन में संतान-प्राप्ति की भावना होती है। संतान नहीं होती है तो आदमी यत्र तत्र जाकर जैसे-तैसे संतान पैदा हो जाए, ऐसा प्रयास भी करता है। साधु-संतों के पास भी यह कामना रखी जाती है कि आप ऐसा आशीर्वाद दो, जिससे पुत्र हो जाए, संतान हो जाए। गृहस्थ के लिए बात ठीक भी है। गार्हस्थ्य में वंश परम्परा को चलाने के लिए संतान भी चाहिए, पुत्र भी चाहिए। यह पुत्रैषणा भी एक आकांक्षा है। इसी प्रकार वित्तैषणा यानी आदमी के मन में धन पाने की लालसा भी होती है। कई बार गलत तरीकों से भी आदमी धनार्जन करने का प्रयास कर लेता है। दुनिया में लोकैषणा भी चलती है। मेरी प्रसिद्धि हो जाए, नाम-ख्याति हो जाए, इसके लिए भी आदमी प्रयास करता है। मुझे प्रतिष्ठा मिले, समाज में स्थान मिले, सम्मान मिले, अधिकार मिले, ये आकांक्षाएं भी

आदमी में देखने को मिलती हैं। ये आकांक्षाएं यदि प्रगाढ़ हैं तो समझना चाहिए धार्मिकता में कुछ कमी है या धार्मिकता नहीं है, शीलवत्ता में कुछ कमी है या शीलवत्ता नहीं है और प्रज्ञावत्ता में कुछ कमी है या प्रज्ञावत्ता है ही नहीं। अधर्म के द्वारा समृद्धि पाने का प्रयास भी होता है। जैन वाङ्मय में श्रावक के लिए या धार्मिक आदमी के लिए कहा गया है कि वह धर्म के द्वारा आजीविका को प्राप्त करे। धर्म के द्वारा कहने का मतलब यह समीचीन लगता है कि जो उसका आजीविका प्राप्ति का साधन है उसमें धर्म को बनाए रखे, नैतिकता, प्रामाणिकता उसके साथ रहे। उससे जो धन अर्जित होता है वह धर्म के द्वारा प्राप्त धन होता है अथवा धर्म युक्त तरीकों से प्राप्त हुआ धन होता है। संसार में नैतिकता भी चलती है। इच्छा, लालसा भी चलती है और उसके चलते जीवन में धार्मिकता आती नहीं, यदि कुछ आ भी जाए तो पुष्ट नहीं हो पाती है। जो महान् साधक हैं, उनका ध्यान न तो धन की ओर, न स्त्री की ओर, न पुत्र की ओर रहता है। वे तो केवल आत्मा की ओर ध्यान लगाने वाले हैं। साधु का राज्य में ध्यान जाए, पुत्र में ध्यान जाए, धन में ध्यान जाए, उसमें दिमाग दौड़ता रहे तो फिर साधना में कमी है। वह माया और राम दोनों से वंचित रह जाता है। कवि ने ठीक कहा—

राम नाम फीका लगा, रीता लगा जो दाम।
दुविधा में दोनों गए, माया मिली न राम।।

साधक के लिए एक ओर तो राम यानी साधना का कार्य उसके सामने है, दूसरी ओर उसका ध्यान माया में है, पैसे में है, भोगों में है तो साधु होने के कारण न तो पूरी माया को भोग पाता, न पूरा राम का नाम ले पाता, न साधना कर पाता। इसलिए कवि ने कहा कि दुविधा में दोनों चले गए, न तो माया को प्राप्त कर सका और न राम की आराधना कर सका। साधु का तो एकमात्र ध्यान अध्यात्म की ओर, आत्मा की ओर लगा रहना चाहिए। आयारो में सुन्दर कहा गया—एगत्तमुहे अर्थात् एक आत्मा की ओर मुंह हो जाए। एक आत्मा को ही प्रमुख मानकर साधक अपनी साधना करे। जहां एक में ध्यान है तब तो वह एक प्राप्त हो सकता है। ध्यान बंटा हुआ है तो प्राप्ति में कठिनाई पैदा हो जाती है।

एक राजा दूर प्रदेश की यात्रा के लिए गया। छह मास का समय उसे यात्रा में लगाना था। राजा के चार रानियां थीं। पांच महीने बीतने पर चारों रानियों ने राजाजी को पत्र लिखे। बड़ी रानी ने लिखा—आप स्वदेश लौटते समय मेरे लिए अच्छी साड़ियां लेकर आना। दूसरी रानी ने लिखा—आप आते समय मेरे लिए सुन्दर हार लेकर आना। तीसरी रानी ने पत्र में लिखा—सामान रखने के लिए अच्छी अलमारियां लेकर आना। चौथी रानी के पत्र में मात्र एक अंक (१) लिखा हुआ था। सारा सामान लेकर राजा यथासमय राजधानी में पहुंचा। सम्राट् का स्वागत हुआ। फिर राजमहल में आया। रानियों से मिला। बड़ी रानी को साड़ियां सौंप दीं। दूसरी रानी को हार दे दिया। तीसरी रानी को अलमारियां दे दीं। शेष सारा सामान सबसे छोटी रानी को दे दिया। तब तीनों रानियां बोलीं—यह पक्षपात क्यों? हम तीनों को तो थोड़ा-थोड़ा सामान दिया गया। इस छोटी रानी को इतना सब कुछ कैसे दिया जा रहा है? राजा ने कहा—अपने-अपने पत्रों को देखो। जिसने जो लिखा, वह मैं लेकर आ गया। तुम तीनों ने जो वस्तुएं मंगाईं, वे तुमको दे दी गईं। चौथी रानी ने और कुछ नहीं मंगाया। उसने लिखा—मुझे तो एकामत्र आपकी जरूरत है। आप जल्दी आ जाओ। इसने मुझको मांग लिया। इसलिए मेरे पास जो भी सामान है वह सारा मेरे साथ इसको मिलेगा। कहने का तात्पर्य है कि जिस प्रकार चौथी रानी का ध्यान एकमात्र राजा की ओर था, वैसे ही साधु का भी ध्यान एकमात्र आत्मा पर रहना चाहिए।

आदमी में कामना होनी चाहिए कि मेरे भीतर ज्ञान का विकास हो, सम्यक् दर्शन, चारित्र और तपस्या का विकास हो। चूंकि इनके द्वारा मोक्ष प्राप्ति होती है। इसलिए इन साधनों के प्रति ध्यान पुष्ट होना चाहिए, न कि बाह्य पदार्थों में ध्यान जाना चाहिए।

जैसे धम्मपद में पुत्रेच्छा, धनेच्छा और राज्येच्छा को छोड़ने की बात है, वैसे ही उत्तराध्ययन में भी कहा गया कि आदमी मनोज्ञ और अमनोज्ञ विषयों में राग-द्वेष न करे, ज्यादा लालसा न करे। 'जहा लाहो तहा लोहो' अर्थात् जैसे-जैसे लाभ होता है वैसे-वैसे लोभ बढ़ता है। आदमी लाभ के साथ लोभ को बढ़ने न दे। वह लोभ पर ब्रेक लगाने का प्रयास करे और अलोभ की ओर आगे

बढ़े। ज्यादा लोभ होने से हृदय की दुर्बलता हो सकती है। ज्यादा लोभ धर्म की दृष्टि से तो काम का है ही नहीं, स्वास्थ्य की दृष्टि से भी कठिनाई पैदा करने वाला हो सकता है। हमारे जीवन में लालसा का अल्पीकरण हो तो धार्मिकता की वृद्धि हो सकती है।

१७

संसार से पार पाएं

धार्मिक मनुष्य के मन में संसार का पार पाने की भावना होती है। इस संसार को एक सागर बताया गया है। इसमें जन्म के बाद मृत्यु और मृत्यु के बाद जन्म, यह क्रम चलता रहता है। बौद्ध साहित्य के महान् ग्रन्थ धम्मपद में कहा गया—

अप्पका ते मनुस्सेसु ये जना पारगामिनो।
अथायं इतरा पजा तीरमेवानुधावति।।६/१०।।

मनुष्यों में पार जाने वाले थोड़े ही हैं। ये दूसरे लोग तो किनारे ही किनारे दौड़ने वाले हैं।

ऐसे कुछ ही मनुष्य मिलते हैं जो पार तक जाने वाले होते हैं। ज्यादातर मनुष्य तो किनारे पर ही दौड़ने वाले होते हैं। किनारे पर दौड़ना तो आसान है, किन्तु सागर के पार पहुंच जाना कठिन काम भी है और महत्त्वपूर्ण काम भी है। जैन वाङ्मय के प्रतिष्ठित आगम उत्तराध्ययन में कहा गया—

जा उ अस्सावि‌णी नावा, न सा पारस्स गामिणी।
जा निरस्सावि‌णी नावा, सा उ पारस्स गामिणी।।२३/७१।।

जो छेद वाली नौका होती है, वह उस पार नहीं जा पाती। किन्तु जो नौका छेद वाली नहीं होती, वह उस पार चली जाती है।

तैरने का माध्यम है नौका। परन्तु नौका भी अगर सछिद्र होती है तो वह डुबोने वाली बन जाती है। नौका निश्छिद्र हो और खेने वाला कुशल हो तो वह नौका पार पहुंचाने वाली हो सकती है। शरीर नौका तो है, पर सछिद्र है या

निश्छिद्र? हमारे जीवन में अगर साधना है तो मानना चाहिए यह नौका निश्छिद्र है और प्रमाद है, पाप है तो मानना चाहिए यह नौका सछिद्र है। यदि आदमी का जीवन भोग में बीतता है, व्यसनों में व्यतीत होता है तो यह जीवन रूपी नौका डुबोने वाली सिद्ध हो जाएगी और शरीर के द्वारा या जीवन के द्वारा संयम की साधना की जाती है तो मानना चाहिए यह नौका पार पहुंचाने वाली हो सकेगी। संसार में आदमी पापकर्म करता है। उन पापकर्मों को भोगना भी होता है। एक निकाचित कर्म होते हैं, जिनके लिए कहा गया है कि उन्हें भोगना आवश्यक है। उन्हें तपस्या के द्वारा भी क्षीण नहीं किया जा सकता है। हालांकि एक मत यह भी रहा है कि तपस्या में इतना बल होता है कि जो निकाचित कर्म बंधे हुए हैं, जो पहाड़ ही भांति कठोर हैं, उनको भी तप रूपी वज्र के द्वारा चूर-चूर किया जा सकता है। परन्तु सामान्य मान्यता यह रही है कि दलिक रूप कर्मों को तो तोड़ा जा सकता है, जो निकाचित कर्म हैं, उन्हें भोगना ही होता है। जो होनहार निश्चित है वह तो होकर ही रहती है। उसे इधर-उधर नहीं किया जा सकता।

श्रीमज्जयाचार्य ने पांच मुनियों के स्तवन रूप विघ्नहरण की ढाल में लिखा है—'निश्चय री बात न्यारी रे, न टलै होणहारी रे' अर्थात् जो होनहार है या निकाचित कर्म हैं, उन्हें टाला नहीं जा सकता। फिर चाहे कितना ही देवी-देवताओं को याद कर लें, उनको तो भोगना ही पड़ता है। इस संदर्भ में एक कथानक आता है। किसी राजा के एक राजकुमारी थी। वह बड़ी लाडली थी। उसका नाम रखा गया भाविनी। जब वह कुछ बड़ी होने लगी, तब उसे एक गुरुकुल में पढ़ने के लिए भेजा गया। एक दिन गुरुजी के एक कृपापात्र शिष्य ने कहा—गुरुदेव! आप तो बड़े ज्ञानी हैं। मेरे मन में एक जिज्ञासा है। गुरु ने कहा—बोलो वत्स! क्या जिज्ञासा है?

शिष्य बोला—गुरुदेव! यह जो राजकुमारी है, भविष्य में इसका पति कौन होगा?

गुरुजी ने कहा—वत्स! इस बात को तुम छोड़ दो।

शिष्य ने कहा—गुरुदेव इसका जवाब तो आपको देना ही होगा। आखिर

गुरु ने इधर-उधर देखा और धीरे से कहा—वह जो एक गरीब महिला का बच्चा है जिसका नाम है रेखला, वह इसका पति बनेगा। यह बात उस भाविनी ने सुन ली। उसके मन में ऐसी पीड़ा जम गई कि इतने गरीब घर का बच्चा, जिसके मुंह पर मक्खियां भिनभिनाती रहती हैं, इतना गंदा बच्चा मेरा पति बनेगा। छुट्टी होने पर वह राजमहल पहुंची और कोपघर में जाकर सो गई। राजा-रानी आए और पूछा—बेटा! क्या बात है? आज तुम यहां क्यों सोई हो? क्या किसी ने तुमको डांट दिया? क्या किसी ने तुम्हारा अपमान कर दिया? राजकुमारी बोली—मुझे किसी ने कुछ नहीं कहा। मेरी स्कूल में रेखला नाम का लड़का पढ़ता है। उसको मारकर उसकी आंख लाकर मुझे दी जाए तो मैं जिन्दा रहूंगी वरना मैं तो आत्महत्या करूंगी। राजा ने कहा—मैं रक्षक हूं। बिना अपराध किसी को कैसे मरवा सकता हूं?

राजकुमारी ने तो एक ही बात ठान ली, या तो मैं जिन्दा रहूंगी या वह रेखला। हम दोनों एक साथ जिन्दा नहीं रहेंगे। अगर मुझे आप जिन्दा देखना चाहते हैं तो रेखले को मरवाना पड़ेगा। आखिर राजा ने बेटी की बात स्वीकार कर ली और रेखले को मारने का आदेश जारी कर दिया। राज्याधिकारी रेखले के घर गए और बूढ़ी मां से लड़के को छीनकर चण्डालों को सौंप दिया। चण्डाल उसे दूर एकान्त जंगल में ले गए। वह गिड़गिड़ाने लगा कि मुझे मत मारो। मैं किसी दूसरे देश में चला जाऊंगा। यहां कभी आऊंगा ही नहीं, मुझे छोड़ दो। चण्डालों के मन में अनुकम्पा जाग गई कि बेचारा निरपराध है। हमारे हाथों से क्यों निरपराध को मारा जाए। चण्डालों ने रेखले को जंगल में छोड़ दिया। रेखला वहां से दूसरे राज्य में चला गया। चण्डालों ने एक हरिण की शिकार की। उसकी आंख निकालकर ले आए और राजा को सौंप दी। राजा ने वह आंख अपनी राजकुमारी को सौंप दी और राजकुमारी ने उस आंख को पैर से कुचल डाला। अब देखिए होनहार कैसे होती है। रेखला उस दूसरे राज्य में चला गया। संयोग की बात, कुछ समय पहले ही वहां का राजा मर गया था। इतने में एक हथिनी राज्याधिकारियों के साथ आई और रेखले के गले में माला डाल दी। अधिकारियों ने जय-जयकार के साथ उसको रथ में बिठाया और राजमहल में ले आए। अच्छे मुहूर्त्त में रेखले का राज्याभिषेक करके उस राज्य

का राजा बना दिया गया। कुछ समय बाद मंत्री आदि ने सोचा कि राजाजी कुंआरे हैं, इनकी शादी करनी चाहिए। इसलिए आस-पास के राज्यों में दूतों को भेजा। एक दूत ने आकर बताया कि पड़ौसी राज्य में एक भाविनी नाम की राजकुमारी है। वह बड़ी सुशील है, अच्छी है। उसके साथ महाराज की शादी हो जाए तो ठीक रहेगा। राजा के सामने प्रस्ताव रखा गया। राजा ने उसको स्वीकार कर लिया और साथ में यह भी कहा कि उनका राज्य छोटा है। इसलिए मैं वहां नहीं जाऊंगा। भाविनी का पिता उसको लेकर यहां आ जाए तो मैं शादी करूंगा। मैं वहां जाकर शादी नहीं करूंगा। भाविनी के पिता से बात की तो उसने स्वीकार कर लिया। बड़ी धूमधाम के साथ महाराज रेखसिंहजी की भाविनी के साथ शादी हो गई। पहली रात में रेखसिंहजी महाराज तो सो गए। नवौढ़ा आई और पतिदेव को जगाया। महाराज ने नाराजगी जताई। भाविनी ने पूछा—आज तो पहला दिन है, इतनी नाराजगी किस बात की? खूब अनुनय-विनय करने पर राजाजी बोले—रेखले को तुम जानती हो? भाविनी ने कहा—वह तो कभी मर गया। राजा बोला—वह रेखला मैं ही हूं। तुम्हारी दृष्टि में तो रेखला मर गया, पर मैं जिन्दा बैठा हूं। अब तो भाविनी डर गई, बोली—महाराज! मैंने बड़ा अपराध किया है। अब आप मेरे पति हैं, मुझे माफ कर दो। आप मुझे जो दण्ड देंगे, वह मंजूर है, परन्तु आपकी कड़ी दृष्टि मैं नहीं देखना चाहती। राजा ने कहा—अब एक ही उपाय है। मेरी मां गांव में आज भी जिन्दा है। तुम स्वयं जाकर अपनी सास को यहां लेकर आओ। फिर मैं तुम्हें अच्छी तरह स्वीकार कर लूंगा। वह बग्घी में बैठकर ठाटबाट के साथ गई। बूढ़ी मां ने पूछा—कौन हो तुम? उसने कहा—मैं भाविनी हूं। मां बोली—अरे! तुम तो डायन हो। मेरे बेटे को तो खा गई, अब क्या मुझे भी खाओगी? भाविनी—मांजी! वे दिन गए। अब तो मैं आपकी पुत्रवधू बन गई हूं और आपके पुत्र तो महाराज बन गए हैं। आखिर वह अपनी सास को लेकर राजमहलों में आ गई। अब सब अच्छी तरह रहने लग गए। कहने का तात्पर्य है कि होनहार थी तो वही रेखला भाविनी का पति बनकर रहा। संस्कृत भाषा में इस बात को इस प्रकार कहा गया है—

उदयति यदि भानुः पश्चिमायां दिशायां,
प्रचलति यदि मेरुः शीततां याति वह्निः।
विकसति यदि पद्मं पर्वताग्रे शिलायां,
तदपि न चलतीयं भाविनी कर्मरेखा।।

पूर्व में उगने वाला सूर्य यदि पश्चिम में उग जाए, मेरु पर्वत चलित हो जाए, अग्नि शीतलता को स्वीकार कर ले और पर्वत पर कमल उत्पन्न हो जाए, परन्तु कर्मों की वह रेखा जिसका उदय में आना निश्चित है, वह उदय में आकर रहती है, उसे टाला नहीं जा सकता।

जो निकाचित या ऐसे सुनिश्चित कर्म होते हैं। उनका जो बंधन हुआ है उनको भोगना ही पड़ता है। धम्मपदकार ने कहा कि कुछ मनुष्य ऐसे होते हैं जो सारे कर्मों का नाश कर संसार का पार पाने वाले होते हैं। ज्यादातर मनुष्य ऐसे होते हैं जो पथ पर दौड़ने वाले होते हैं। वे पार पहुंचने वाले नहीं होते। पार पहुंचने के लिए नौका चाहिए। शरीर रूपी नौका से धर्म की साधना करके आदमी संसार समुद्र से पार पहुंच सकता है, परन्तु उसके लिए नौका का निश्छिद्र होना अनिवार्य है। इस जीवन रूपी नौका को या शरीर रूपी नौका को निश्छिद्र बनाए रखने के लिए संवर और निर्जरा की साधना आवश्यक होती है। संवर से नये कर्मों के आने का द्वार बंद होता है और जो पुराने कर्म हैं उनको तोड़ने का उपाय निर्जरा है। संवर और निर्जरा की साधना होती है तो हमारी आत्मा रूपी तालाब कर्म रूपी पानी से रिक्त हो जाता है और वह अवस्था मोक्ष की अवस्था हो जाती है।

हम संसार को पार करने का प्रयास करें, यह हमारे लिए कल्याणकारी होगा।

१८

परिष्करणीय में परिष्कार करें

साधु कौन होता है और असाधु कौन होता है? आर्हत् वाङ्मय में इसकी सुन्दर परिभाषा दी गई–'गुणेहिसाहु अगुणेहिऽसाहु' गुणों से आदमी साधु होता है और अवगुणों या दुर्गुणों से आदमी असाधु बन जाता है। साधु के लिए आधारभूत तत्त्व है गुण और असाधुता का आधारभूत तत्त्व है दुर्गुण। बौद्ध साहित्य के महान् ग्रन्थ धम्मपद में भी कुछ ऐसी बात आती है–

कण्हं धम्मं विप्पहाय सुक्कं भावेथ पंडितो।
ओका अनोकं आगम्म विवेके यत्थ दूरमं।।६/१२।।
तत्राभिरतिमिच्छेय्य हित्वा कामे अकिञ्चनो।
परियोदपेय्य अत्तानं चित्तक्लेसेहि पंडितो।।६/१३।।

पंडित बुरी बात को छोड़ अच्छी का अभ्यास करे। घर से बेघर हो एकान्त स्थान में रहे। भोगों को छोड़ अकिंचन हो वहीं रत रहने की इच्छा करे। पण्डित चित्त के मलों से अपने को शुद्ध करे।

पंडित वह होता है, ज्ञानी वह होता है, जो कृष्ण पक्ष को छोड़कर शुक्ल पक्ष को स्वीकार करता है। महीने में दो पक्ष आते हैं कृष्ण पक्ष और शुक्ल पक्ष। ये तो काल के संदर्भ में दो विभाग हो गए। हमारे जीवन में भी दोनों पक्ष होते हैं, एक कृष्ण पक्ष और दूसरा शुक्ल पक्ष। हम आदमी के कृष्ण पक्ष को देखें तो उसकी कमजोरियों को उजागर किया जा सकता है और शुक्ल पक्ष को देखें तो उसके गुणों को भी उजागर किया जा सकता है। आदमी का लक्ष्य यह बने कि मुझे कृष्ण पक्ष से शुक्ल पक्ष की ओर आगे बढ़ना है। इसके लिए

परिवर्तन अपेक्षित होता है। किन्तु परिवर्तन में भी विवेक हो कि कहां परिवर्तन करना और कहां परिवर्तन नहीं करना है। अपरिवर्तनीय में परिवर्तन किया जाए तो विपर्यास हो जाएगा। जो परिवर्तन के योग्य है उसी में परिवर्तन करने का प्रयास करना चाहिए। आदमी यह विचार करे कि मैं जहां हूं उसमें परिष्कार की आवश्यकता है या नहीं? मैं जहां हूं वह अन्तिम सीमा आ गई तब तो परिष्कार की बात ही नहीं है। यदि मैं जहां हूं उससे आगे जाने का भी अवकाश है और जहां जाना भी चाहिए तो फिर परिवर्तन और परिष्कार की अपेक्षा रहती है। मैं परिष्कार को बड़ा महत्त्व देता हूं। परिष्कार करते-करते आदमी कितना ऊंचा उठ जाता है। कोई कवि होता है। वह कविता बनाता है या लेखक लेख लिखता है। एक बार लिखने के बाद फिर उसको दुबारा पढ़े, तिबारा पढ़े और यह ध्यान दे कि इसमें और क्या परिष्कार हो सकता है। इस परिष्कार की दृष्टि या समीक्षा की दृष्टि से कविता या लेख को पढ़ा जाए तो संभव है उसमें कुछ परिष्करणीय स्थल भी मिल सकते हैं।

मुझे परमपूज्य गुरुदेव तुलसी की स्मृति हो रही है। वे गीत का निर्माण करते और फिर उसमें कुछ परिष्कार भी कर देते। जो शब्द पहले किसी गीत में थे, कई वर्षों बाद उनकी जगह कहीं-कहीं दूसरे शब्दों का प्रयोग कर दिया गया। चूंकि एक समय आने के बाद कई बार लगता है कि पहले मैंने जो किया था उसमें और परिष्कार होना चाहिए। यह सोचकर आदमी अपने कविता, गीत, लेख आदि में परिष्कार करता है। आदमी को अपने जीवन के सिद्धान्तों में, जीवन के आचरणों में, जीवन की वृत्तियों में भी परिष्कार करना चाहिए। परिवर्तन के लिए चिन्तन करना चाहिए, विवेक युक्त निर्णय करना चाहिए कि किन-किन बातों में मेरे जीवन में परिवर्तन आना चाहिए और किन-किन बातों में समाज में भी परिवर्तन आना चाहिए। जो समाज के प्रमुख होते हैं या उच्चस्तरीय संस्था होती है। उसका दायित्व है कि वह समाज के बारे में भी सोचे और समाज में परिवर्तन-परिष्कार की बात पर भी ध्यान दे। चिन्तन-मन्थन करने से और कभी-कभी अकस्मात् स्फुरणा होने से कुछ परिवर्तन की बात दिमाग में आ भी सकती है। उस पर अच्छी तरह मंथन कर लिया जाए, फिर जो परिवर्तनीय चीज हो उसमें साहस के साथ आदमी को आगे बढ़ना

चाहिए। क्योंकि साहस के बिना बड़ा परिवर्तन करना भी कठिन होता है। जब विरोध होता है या कुछ अवरोध दिखाई देते हैं तो कमजोर आदमी घुटने टेकने की स्थिति में आ जाता है, पर साहस एक ऐसा दीपक होता है जो आदमी के पथ को प्रकाशित कर देता है। जीवन में और संगठन के सामने भी कभी-कभी झंझावात आ सकते हैं, कठिनाइयां आ सकती हैं, परन्तु उस समय आत्मबल, मनोबल और साहस का दीपक पास में हो तो आगे बढ़ने के लिए पथ आलोकित हो सकता है और विकास की ओर प्रवर्धमान हो सकता है।

शिष्य गुरु के पास गया और बोला—गुरुदेव! आपकी आज्ञा हो तो मैं बाहर जाकर धर्म का प्रचार करना चाहता हूं। गुरु ने सोचा, योग्य शिष्य है। इसको बाहर भेजना चाहिए। अच्छा काम करेगा। शिष्य ने जाते समय वंदना की और कहा—गुरुदेव! मुझे कोई संबोधन प्रदान करें ताकि मैं आपके उस शिक्षा-संबल के आधार पर अच्छा काम कर सकूं। गुरु गहरे ज्ञानी थे। कम शब्दों में अधिक बात कहने वाले थे। शिष्य भी बड़ा इंगितज्ञ था। गुरु ने कहा—वत्स! चार शब्दों को याद रखना—सूई, कंघा, अगरबती और मोमबत्ती। शिष्य प्रस्थित हुआ। जगह-जगह गया। उसने सोचा, गुरु ने कहा था कि सूई को याद रखना। मैं जहां जाऊंगा वहां कहीं मुझे विवाद मिल जाएंगे, कहीं मन की दूरियां, मनोमालिन्य मिल जाएगा, दिल फटे हुए मिल जाएंगे। मैं जिस समाज में काम करने जा रहा हूं। वहां मुझे सूई बनकर काम करना है, फटे हुए दिलों को जोड़ने का प्रयास करना है और उसने वैसा काम भी किया। गुरु ने कहा था कि कंघा याद रखना। जैसे कंघा उलझे हुए बालों को सुलझा देता है, वैसे ही मुझे जहां उलझन हो, वहां कंघा बनकर उलझनों को मिटाकर उन्हें सुन्दर बनाने का प्रयास करना है। गुरु ने कहा था—अगरबत्ती को याद रखना। अगरबत्ती से सौरभ प्राप्त होती है। मुझे समाज में सदाचार की सौरभ फैलानी है। समाज में सदाचार की भावना पुष्ट करनी है।

गुरु ने कहा था—मोमबत्ती को याद रखना। मोमबत्ती से प्रकाश मिलता है। मुझे उपदेश के द्वारा, प्रवचन के द्वारा, आगमवाणी के द्वारा दुनिया में, समाज में ज्ञान का प्रकाश फैलाना है। उन चार शब्दों के आधार पर उसने अपना प्रचार-प्रसार कार्य करना शुरू किया और सफल हो गया।

हमारे समाज में जुड़ी हुई संस्थाएं भी ऐसा ही काम कर रही हैं। समाज में ज्ञान का प्रकाश फैले, चरित्र सम्पन्नता रहे, व्यसन मुक्ति रहे और जो पदों पर आसीन हों, उनके लिए तो और ज्यादा विचारणीय है कि वे नशामुक्त हैं या नहीं। अन्य लोगों का जीवन भी नशामुक्त होना चाहिए।

इस प्रकार परिष्करणीय स्थलों पर परिष्कार का ध्यान देकर वहां परिष्कार करने में हमारी शक्ति लगे तो ऐसी कोई असंभव बात नहीं है कि परिष्करणीय में परिष्कार नहीं लाया जा सकता। समाज के लोगों में काफी श्रद्धा, समर्पण और निष्ठा का भाव है और साथ में कार्य-कौशल भी है। अतः व्यक्ति कार्य को आगे बढ़ा सकता है और कार्य में सफलता भी प्राप्त कर सकता है।

१९

देव-दर्शन की इच्छा न करें

आदमी अपने जीवन में सफल होना चाहता है। वह जिस उद्देश्य को सामने रखकर प्रयास करता है, वह उद्देश्य पूरा हो जाता है तो व्यक्ति उसमें सफल हो जाता है। जो उद्देश्य उसका निर्णीत होता है उसकी प्राप्ति नहीं होती है तो आदमी असफल हो जाता है। जो बुरी शक्तियां हैं वे भी अपना काम करती हैं और अच्छी शक्तियां भी दुनिया में काम करती हैं। अच्छी शक्तियों को बढ़ावा मिलना चाहिए, प्रोत्साहन मिलना चाहिए और बुरी शक्तियों को दमित करने का, असफल करने का प्रयास करना चाहिए। श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैं युग-युग में उत्पन्न होता हूं उसका उद्देश्य है कि जो सज्जन लोग हैं, उनका परित्राण किया जा सके, उनको सुरक्षा मिल सके और जो दुर्जन लोग हैं, उनका विनाश किया जा सके एवं धर्म की संस्थापना हो सके। दुनिया में सज्जन पुरुष या महापुरुष ऐसे होते हैं जो बुरी शक्तियों को विफल करने का प्रयास करते हैं और अच्छी शक्तियों को बढ़ावा देते हैं।

उत्तराध्ययनकार ने कहा—'कोहं असच्चं कुव्वेज्जा' अर्थात् क्रोध को असत्य करो। गुस्से में भी शक्ति होती है, परन्तु वह बुरी शक्ति है। इसलिए उस शक्ति को या गुस्से को विफल करने का प्रयास करो। फिर कहा—'धारेज्जा पियमप्पियं' अर्थात् जीवन में आने वाली प्रिय-अप्रिय स्थितियों को धारण करना चाहिए, यानी उसको सहन करना चाहिए। प्रियता की स्थिति आ गई तो भी मन में कोई विकार पैदा नहीं होने दिया और अप्रिय स्थिति आ गई उसको भी सहन कर लिया।

बौद्ध साहित्य के महान् ग्रन्थ धम्मपद में कहा गया है–

यस्सिन्द्रियानि समथं गतानि, अस्सा यथा सारथिना सुदन्ता।
पहीनमानस्स अनासवस्स, देवापि तस्स पिहयन्ति तादिनो।।७/५।।

सारथी द्वारा दमन किए गए अश्व के समान जिसकी इन्द्रियां शांत हो गई हैं, वैसे अहंकार रहित अनाश्रव सन्त (अर्हत्) की देवता भी स्पृहा करते हैं।

जैन वाङ्मय का प्रसिद्ध शब्द है आश्रव। बौद्ध साहित्य में भी आश्रव शब्द काम में आया है। प्रस्तुत श्लोक में अनासव शब्द है। जिसका अर्थ है आश्रव रहित होना। जो पवित्र आत्मा है, उससे देवता भी मिलना चाहते हैं, उसको प्रणाम-नमस्कार करना चाहते हैं। समान्यतया जनता में देव शक्ति के बारे में आकर्षण देखने को मिलता है। मेरा सोचना है कि एक साधक अपनी साधना करता है, उसके पास यदि देवता आ भी गया तो उसके लिए कौनसी बड़ी बात हो गई और देवता नहीं आया तो कौनसी उसके लिए घटिया बात हो गई। वह तो साधना करे। देवता का आना या न आना कोई बड़ी बात नहीं है। उत्तम बात है वीतरागता को प्राप्त कर लेना, राग-द्वेष मुक्त हो जाना। साधक को यह वाञ्छा भी नहीं करनी चाहिए कि कोई देवता मुझे प्रणाम करे, मेरे पास आए, मेरी सेवा करे। साधक अपनी साधना को बढ़ाने का प्रयास करे। वह छोटी बातों में न उलझे। यदि पुण्य अपने साथ है तो जो कुछ अच्छा मिलना है, वह अवश्य मिल जाएगा। यदि पुण्य का योग है ही नहीं, पाप का ही प्राबल्य है तो कितने ही देवताओं को याद कर लो, वे देवता उन पापों से कितना बचा पाएंगे, एक प्रश्नचिह्न है। मेरा अनुमान है अपना प्रबल पाप का उदय है तो देवता भी बचा नहीं सकते, आदमी को अपना पाप भोगना ही पड़ता है। इसलिए देववाद में भी मेरे विचार से ज्यादा उलझना नहीं चाहिए। आदमी को आत्मा का उत्थान हो, कर्मों की निर्जरा हो, संवर की साधना पुष्ट हो, ऐसा प्रयास करना चाहिए। यद्यपि जब साधना उच्च होती है तो कभी-कभी देवता भी अपनी इच्छा से उसे श्रद्धेय मानते हुए नमस्कार करने के लिए उसके पास आ सकते हैं। परन्तु मुख्य लक्ष्य साधक का यही रहना चाहिए कि मैं साधना में आगे बढ़ूं। साधु साधक होता है तो श्रावक भी एक साधक है। उसे गृहस्थ साधक कहा जा सकता है। उसका भी लक्ष्य रहे कि मैं वीतरागता की दिशा में आगे बढ़ूं, अपनी साधना को आगे बढ़ाने का प्रयास करूं।

२०

पृथ्वी के समान सहिष्णु बनें

आर्हत् वाङ्मय में कहा गया—'पुढवीसमो मुणि हवेज्जा' साधु को पृथ्वी के समान होना चाहिए। पृथ्वी के समान होने से तात्पर्य है कि पृथ्वी समतामूर्ति होती है। वह सब कुछ सहने वाली होती है। संस्कृत व्याकरण का एक ग्रन्थ है कालुकौमुदी, जो तेरापंथ धर्मसंघ में साधु-साध्वियों द्वारा याद भी किया जाता है। मैंने भी उसको कंठस्थ किया था। वहां संस्कृत व्याकरण के संदर्भ में उदाहरण दिए गए—'सर्वंसहो मुनिः, सर्वंसहा पृथ्वी।' साधु सब कुछ सहन करने वाला होता है अथवा होना चाहिए। पृथ्वी पर कितने वाहन दौड़ते हैं, कोई उसे खोदते हैं, कोई थूकते हैं, कोई कुछ करते हैं, किन्तु पृथ्वी समता रखती है। हालांकि एक बार मैंने एक टिप्पणी की थी कि यों तो पृथ्वी को सर्वंसहा कहा गया है, परन्तु कभी-कभी उसमें कम्पन होता है। जैसे बच्चा गलतियां करता है तो कई बार मां थप्पड़ भी लगा देती है। पृथ्वी को भी मां कहा गया है। हम कल्पना करें कि पृथ्वी यह सोचती है कि मेरे पुत्र मानव अपराध करने लग गए हैं, भ्रष्टाचार करने लग गए हैं, इनके चपत लगानी चाहिए। मानो चपत लगाने के प्रतीक के रूप में पृथ्वी में कम्पन होता है, भूकम्प आता है। अथवा यों भी कहा जा सकता है कि धरती पुत्र भ्रष्टाचार आदि करते हैं तो पृथ्वी को भी कष्ट होता होगा, तब उसमें कम्पन हो जाता होगा। ये सब तो कल्पना की बातें हैं। सारांश इतना-सा है कि जैसे पृथ्वी सहन करने वाली होती है, उसी प्रकार साधु को भी सब कुछ सहन करने वाला होना चाहिए। कोई उसे गाली दे, कोई पीट भी दे, कोई अपमानजनक शब्दों का प्रयोग कर ले। पर साधु को गुस्से में नहीं आना चाहिए। उत्तराध्ययन सूत्र के बारहवें अध्ययन में कहा गया

है—'महप्पसाया इसिणो हवन्ति न हु मुणि कोवपरा हवंति।' ऋषि महान् प्रसाद वाले होते हैं। वे गुस्से में तत्पर नहीं बनते हैं। बौद्ध साहित्य के महान् ग्रन्थ धम्मपद में कहा गया है—

पढवीसमो नो विरुज्झति इन्दखीलूपमो तादि सुब्बतो।
रहदो'व अपेतकद्दमो संसारा न भवन्ति तादिनो।।७/६।।

सुन्दर व्रतधारी अर्हत् पृथ्वी के समान क्षुब्ध नहीं होने वाला और इन्द्रकील के समान अकम्प्य होता है। वैसे पुरुष को कीचड़ रहित जलाशय की भांति मल (संसार) नहीं होते हैं।

पृथ्वी के समान जो संत पुरुष होता है। वह कभी क्षुब्ध नहीं होता। कभी आक्रुष्ट नहीं होता। जो सुव्रत है, अच्छे व्रतों को धारण करने वाला मुनि है, वह मन्दर पर्वत के समान अकम्प होता है। उसे कोई विचलित नहीं कर सकता। कितना ही सुन्दर रूप सामने आ जाए, सुव्रत मुनि विकार भावना से कम्पित नहीं होता। संस्कृत साहित्य में कहा गया—विकारहेतौ सति विक्रियन्ते यानी विकार का हेतु उत्पन्न होने पर भी जिनका चित्त विकृत नहीं होता है, वे पुरुष धीर कहलाते हैं। साधु के लिए वांछनीय है कि वह धीरता सम्पन्न हो। अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति में शान्त रहने वाला हो। आदमी के जीवन में अनुकूलता-प्रतिकूलता कभी भी आ सकती है। अनुकूलता आ गई तो आदमी खूब हर्ष में चला गया और प्रतिकूलता आ गई तो उद्विग्न हो गया—ये स्थितियां धीरता में बाधक हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं कि प्रियता की स्थिति आ जाए तो प्रहर्ष में मत जाओ और अप्रिय स्थिति आ जाए तो उद्विग्न मत बनो अर्थात् स्थितप्रज्ञ बने रहो। यह साधना की उच्च भूमिका है। स्थितप्रज्ञ या वीतराग बनने के लिए कामनाओं का परित्याग करना होता है, लालसा छोड़नी होती है और भौतिक चीजों के आकर्षण से दूर रहना होता है।

एक युवक घूमते-घूमते किसी संन्यासी के पास चला गया। संन्यासी ने कहा—मेरे से गुरुमंत्र ले लो।

युवक—आपकी इच्छा है तो दे दो।

गुरु ने कान में कोई मंत्र बता दिया।

युवक–इससे क्या होगा?

संन्यासी–तुम इसका जप करो, मैं तुमको स्वर्ग का राज्य दे दूंगा।

युवक–ठीक है।

संन्यासी–मैंने मंत्र दिया है, अब तुम मुझे कुछ गुरु दक्षिणा दो।

युवक–मैं आपको दिल्ली का राज्य दे दूंगा, महाराष्ट्र का राज्य दे दूंगा, गुजरात का राज्य दे दूंगा। सारे राज्य आपको दे दूंगा।

संन्यासी–क्या ये सारे राज्य तुम्हारे बाप के हैं जो तुम मुझे दे दोगे।

युवक ने कहा–क्या स्वर्ग का राज्य आपके बाप का है जो मुझे दे दोगे। बाबाजी! हम तो गृहस्थ हैं। हमारे में लालसा हो सकती है। परन्तु साधु में कोई लालसा नहीं होनी चाहिए। साधु को तो कांता और कांचन यानी औरत और पैसे का त्यागी होना चाहिए। उसे आत्मकल्याण और परकल्याण का प्रयास करना चाहिए। साधु का काम है कि वह जनता को अहिंसा की, अनुकम्पा की बात सिखाए।

धम्मपद में कहा गया कि आदमी पृथ्वी के समान बन जाए। खैर, उतना विकास न भी हो सके। पर हम जीवन में सहिष्णुता का विकास करने का प्रयास करें। हर स्थिति को झेलें। जिन्दगी में कभी बीमारियां आ जाती हैं, कभी अपमान हो जाता है। इन बातों को लेकर हमारा मन विचलित नहीं होना चाहिए। हम सहन करना सीखें। सहन करने वाला व्यक्ति बड़ा होता है। जो सहन करना नहीं जानता, वह बड़ा नहीं होता। हमारी बहनें बड़े बनाती होंगी। बड़ा भी आसानी से नहीं बनता। वह भी कितना सहन करता है। किस प्रकार दाल को साफ किया जाता है। फिर उसे पीसा जाता है। फिर तेल में तला जाता है। कितनी प्रक्रिया से गुजरता है, तब वह बड़ा बनता है। आदमी को भी बड़ा बनना है तो बहुत सहना होगा, कठिनाइयों को भी झेलना होगा। अनुकूलता और प्रतिकूलता दोनों को झेलने से आदमी बड़ा बन जाता है, महापुरुष बन जाता है।

जैनविद्या के अनुसार चौदह गुणस्थानों में अन्तिम गुणस्थान है–अयोगी केवली गुणस्थान। अयोगी यानी जिसने मेरु पर्वत की अवस्था को प्राप्त कर

लिया, जो मेरु की तरह अकम्प हो गया। जहां न शरीर हिलता-डुलता है, न वाणी का प्रकम्पन है, न मन का प्रकम्पन है। चौदहवें गुणस्थान की सर्वथा अप्रकम्प अवस्था होती है। चौदहवां गुणस्थान आने के बाद तो अ ई ऊ ऋ लृ—इन पांच ह्रस्वाक्षरों का उच्चारण हो इतने से कालमान के बाद वह आत्मा सिद्धत्व को प्राप्त हो जाती है। धम्मपद के अनुसार मन्दर पर्वत की तरह अकम्प हो जाना और जैन वाङ्मय के अनुसार शैलेशी अवस्था को प्राप्त हो जाना एक प्रकार की साधना की अन्तिम भूमिका होती है। उसके बाद मोक्ष का धाम प्राप्त हो जाता है।

२१

शांति में संतता का दर्शन

बौद्ध साहित्य के महान् ग्रन्थ धम्मपद में कहा गया–

सन्तं तस्स मनं होति सन्ता वाचा च कम्म च।
सम्मदञ्ञा विमुत्तस्स उपसन्तस्स तादिनो।।७/७।।

यथार्थ रूप से जानकर मुक्त हुए उपशान्त अर्हत् का मन शान्त होता है। वाणी और कर्म शान्त होते हैं।

जो साधक सम्यक् ज्ञान के साथ उपशम की साधना कर लेता है, उसका मन शान्त हो जाता है, उसकी वाणी भी शांत हो जाती है और उसका कर्म यानी आचरण भी संयमित हो जाता है। शांति आ जाने का मतलब है संतता का आ जाना। मैं एक वाक्य में संत की परिभाषा बताया करता हूं कि जो शांत होता है वह संत होता है। जो अशांत है, उग्रकषायी है, उसमें संतता नहीं अथवा संतता में कुछ कमी होती है। शांति का अभ्यास करना अध्यात्म की महत्त्वपूर्ण साधना होती है। गृहस्थ संसार में रहने वाला है। उसमें परिवार, मकान, धन आदि के प्रति मोह होता है। वह साधना करे और मोह को कम करने का अभ्यास करे। आदमी के पास धन है तो वह सोचे कि यह भी सदा स्थायी रह जाए, आवश्यक नहीं। संस्कृत साहित्य में कहा गया–

द्युतेन मद्येन पणांगनाभि, तोयेन भूपेन हुतासनेन।
मलिगरूचे नाश हरेन नाशं, नियेत वित्तत्वं धनं शिरत्वम्।।

धन होता है, उसमें स्थिरता कहां है? आदमी जुआ खेले तो जुए में भी धन जा सकता है। कोई शराब का आदी हो जाए तो शराब की लत के कारण

से भी पैसा जा सकता है और वेश्या के चक्कर में पड़ जाए तो भी पैसा नष्ट हो सकता है और कभी-कभी प्राकृतिक आपदाओं से भी धन चला जाता है, जैसे बाढ़ आ गई और मकान डूब गया तो धन भी नष्ट हो सकता है, दुकान आदि में आग लग गई, मकान में आग लग गई तो भी धन विनाश को प्राप्त हो सकता है। टैक्स बहुत ज्यादा हो जाए तो उसमें भी काफी धन जा सकता है। कभी राजाज्ञा हो जाए कि धनवानों का धन लाओ तो भी धन जा सकता है। गृहस्थ यह सोचे कि धन मेरे पास है, तो उसके प्रति भी मेरे मन में ज्यादा मोह नहीं होना चाहिए। परिवार के प्रति भी ज्यादा मोह न हो। कर्तव्य निभाना एक बात है और ज्यादा मोह का होना अलग बात होती है। हमारे व्यवहार में शांति हो। हमारा गुस्सा उग्र न हो, अहंकार उग्र न हो, माया न हो और लोभ भी ज्यादा न हो। इसका मतलब है हमारे चित्त में शांति आ गई। चित्तसमाधि तब संभव है जब आदमी का कषाय उपशांत होता है। चित्तसमाधि का इच्छुक आदमी अपने कषायों को शांत करने का प्रयास करे।

एक राजा बैठा था। उसे बैठे-बैठे नींद आ गई। नींद में उसने सपना देखा कि सामने कोई दिव्य आत्मा विराजमान है। वह तीन शिक्षाएं दे रही हैं—१. ब्रह्ममुहूर्त्त में जाग जाना चाहिए और फिर घूमना चाहिए। २. आए हुए का आदर करना चाहिए। ३. तेज गुस्सा हो तब कोई Action नहीं लेना चाहिए। तीन शिक्षाएं मिलीं और राजा की तंद्रा टूट गई। राजा ने तीनों शिक्षाओं को याद कर लिया। राजा सवेरे देरी से उठने का आदी था, किन्तु अब उसने ब्रह्ममुहूर्त्त में उठना शुरू कर दिया और घूमने के लिए भी जाने लगा। एक दिन सुबह जल्दी उठा और घूमने के लिए जा रहा था, तो मार्ग में देखा, एक देवी खड़ी है।

राजा—आप कौन हैं?

देवी—मेरा नाम लक्ष्मी है।

राजा ने देखा कि लक्ष्मी रो रही है।

राजा—जगदम्बे! तुम रो क्यों रही हो? तुम्हारे कारण तो हम खुश होते हैं और तुम रो रही हो।

लक्ष्मी—राजन्! मुझे दुःख इस बात का है कि मैं इतने दिन आपके पास थी, किन्तु अब मुझे आपका सान्निध्य नहीं मिलेगा।

राजा—अब कहां जा रही हो?

लक्ष्मी—मैं तो यहीं हूं, पर आपकी कल मौत होने वाली है। सामने वाले पर्वत से एक सर्प आएगा और वह आपको डस लेगा। कल मेरे स्वामी मर जाएंगे, इस बात का मुझे दुःख हो रहा है। इसलिए आंसू आ रहे हैं। राजा तत्काल वहां से लौट आया और चिन्तन करने लगा कि अब क्या करना चाहिए। दूसरा दिन आ गया। राजा को दूसरी शिक्षा याद आ गई कि आए हुए का आदर करना चाहिए। अभी नागराज आने वाला है। मुझे उसका भी आदर करना चाहिए। लक्ष्मी ने जिस पर्वत से नागराज के आने की बात कही थी, वहां से लेकर अपने महल तक फूल ही फूल बिछा दिए। निश्चित समय पर नागराज पर्वत से उतरा और राजा के महल की ओर आगे बढ़ा। जैसे ही नागराज राजा के पास पहुंचा, राजा बोला—नागराज! मैं तैयार हूं। तुम मुझे डस सकते हो। मेरे पीछे कोई पुत्र तो है नहीं। इसलिए मैंने महारानी को यह आदेश दे दिया कि मेरे मरने के बाद अपनी राजकुमारी को पुरुष का वेश पहनाकर राजा बना देना। जब मौका आए तो उसकी शादी कर देना। शादी करने के बाद अपना दामाद जो होगा उसको राजा बना देना। मैंने सारी व्यवस्था कर दी है। अब तुम मुझे डस सकते हो। नागराज ने सोचा कि इसने मेरा इतना स्वागत किया है, अब इसे तो नहीं डसना चाहिए। नागराज बोला—राजन्! आज एक प्राणी की मौत हो होनी ही है। पर तुमने मेरा इतना स्वागत सम्मान किया, अब मैं तुमको नहीं मारूंगा, मैं खुद ही मर जाऊंगा। यह कहते ही उसका प्राणान्त हो गया। दिव्य आत्मा के द्वारा दी गई दूसरी शिक्षा भी काम आ गई। उसी रात्रि में राजा अपने अन्तःपुर में कुछ देरी से गया। उसने देखा कि रानी के पास कोई पुरुष सोया हुआ है। राजा को गुस्सा आया, तलवार हाथ में ली और सोचा, रानी और इस पुरुष को अभी मार डालूं। तभी उसे दिव्य आत्मा की तीसरी शिक्षा याद आ गई कि तेज गुस्से में कोई Action नहीं लेना चाहिए। राजा ने सोचा, एक बार रानी से बात तो कर लूं। रानी को जगाया और पूछा—यह कौन है? रानी बोली—महाराज! यह तो अपनी राजकुमारी है। आपने

कहा था कि मेरे मरने के बाद इसे पुरुष का वेश धारण करा देना। मैंने सोचा, आपके जीवित रहते ही रिहर्सल कर लूं इसको पुरुष बनाने की। इसलिए इसको पुरुष का वेश पहनाया था। राजा ने सोचा, आज तो अनर्थ हो जाता। मेरी रानी और राजकुमारी दोनों ही चले जाते। उस दिव्य आत्मा ने मेरा कल्याण कर दिया।

आदमी को स्वप्न आते हैं। कई बार तो निस्सार स्वप्न आते हैं। कई बार सपनों में कोई शिक्षा भी मिल जाती है। कहा जाता है कि अष्टमाचार्य परमपूज्य कालूगणी को कभी पंचमाचार्य मघवागणी का सपना आता था। कालूगणी के मन में कोई प्रश्न होता, तो मघवागणी सपने में उनके प्रश्न का उत्तर दे देते। इस प्रकार कभी-कभी हमारे जो पूज्य हैं, आराध्य हैं, वे कई बार स्वप्न में कोई समाधान, कोई पथदर्शन भी दे सकते हैं।

धम्मपदकार ने कहा कि उसका मन शान्त होता है, उसकी वाणी शान्त होती है, उसका आचरण शान्त होता है, जो सम्यक् ज्ञान के साथ मुक्त होने का अभ्यास करता है और उपशम की साधना कर लेता है। जो साधक होता है, उसमें शांति का विकास होना चाहिए। साधक है तो उसका लक्ष्य रहे मुझे कषाय विजय का अभ्यास करना है। दूसरा भले कोई मेरा नुकसान कर दे, किन्तु मैं किसी का नुकसान नहीं करूंगा।

एक संत जा रहा था। किसी दुर्जन आदमी ने संत पर कोयले फेंकने शुरू कर दिए। संत के साथ जो सेवक था, वह बोला—बापजी महाराज! उस आदमी ने आपके ऊपर कोयले फेंके हैं। मैं उसे मारूंगा। संत ने कहा—भैया! मारने की जरूरत नहीं है। उसने इतना क्या बुरा किया? मैं तो बहुत पापी आदमी हूं। मैंने पिछले जन्मों में इतने पाप किए हैं कि मेरे ऊपर तो अंगारे पड़ने चाहिए। इसने तो कोयले ही फेंके हैं। अंगारे पड़े तो भी कोई बड़ी बात नहीं है। इसलिए इस पर कोई प्रहार मत करना। इसको क्षमा देना है। संत का चिंतन कितना उन्नत होता है। अपना नुकसान करने वाले के प्रति भी, अहित करने वाले के प्रति भी उनके मन में करुणा और दया की भावना होती है। ऐसे संत भी दुनिया में विरले ही मिलेंगे जो मारने-पीटने या अपमान करने वालों के प्रति भी दया की भावना रखते हैं, करूणा की भावना रखते हैं। हम भी कुछ अंशों में शांति की साधना करें, समता की साधना करें।

२२

जीवन में उत्तमता का विकास हो

बौद्ध साहित्य के महान् ग्रन्थ धम्मपद में बताया गया है–

अस्सद्धो अकतञ्ञू च सन्धिच्छेदो च यो नरो।
हतावकासो वन्तासो स वे उत्तमपोरिसो।।७/८।।

जो (अन्ध) श्रद्धा से रहित है। अकृत (निर्वाण) को जानने वाला है (संसार की) सन्धि का छेदन करने वाला है और उत्पत्ति रहित है तथा जिसने सारी तृष्णा को वमन (त्याग) कर दिया है। वही उत्तम पुरुष है।

हमारी दुनिया में अधम पुरुष भी देखने को मिलते हैं, मध्यम पुरुष भी मिलते हैं और उत्तम पुरुष भी मिलते हैं। अधम, मध्यम और उत्तम पुरुष के अनेक संदर्भों में अनेक वर्गीकरण किए जा सकते हैं। पैसे की दृष्टि से विचार किया जाए तो जो बिल्कुल गरीब है, वह अधम कोटि का आदमी है। जो ठीक खाता-पीता है, वह मध्यम कोटि का व्यक्ति है और जिसके पास खूब पैसा है, ऐशो-आराम कर सकता है, उसे उत्तम पुरुष कहा जा सकता है। पद, ज्ञान और आचार की दृष्टि से भी अधम, मध्यम और उत्तम का विचार किया जा सकता है। आचरण की दृष्टि से जो दूसरों को कष्ट देने वाला है, दुर्जनता युक्त है, वह अधम कोटि का पुरुष होता है। जो न दूसरों का बुरा करता है और न किसी का भला करता है, वह मध्यम कोटि का पुरुष होता है और जो दूसरों का बुरा तो करता ही नहीं, दूसरों का कल्याण करता है, दूसरों के हित के लिए अपनी शक्ति का नियोजन करता है, वह व्यक्ति उत्तम पुरुष होता है। कुछ लोग दुनिया में ऐसे होते हैं जो लोकोत्तर दृष्टि से दूसरों का भला करने वाले होते हैं

और ऐसे लोग भी समाज में मिलते हैं जो लौकिक दृष्टि से दूसरों का भला करने वाले होते हैं। आदमी को जितनी अपेक्षा हो, उतना पैसा तो चाहिए, परन्तु मात्र संग्रह और आसक्ति की भावना हो, वह साधना की दृष्टि से उत्तम पुरुषत्व में बाधक होती है। इसलिए त्याग-संयम की चेतना का विकास होना चाहिए। साथ में ज्ञान का विकास हो और स्वार्थ की वृत्ति का त्याग व दूसरों का कल्याण करने की भावना आदमी को उत्तम बनाने वाली होती है, महान् बनाने वाली होती है।

एक परिवार में मां और एक लड़का था। दोनों गरीबी भोग रहे थे। इतनी गरीबी कि आज खाना मिल गया तो कल की चिन्ता। सुबह मिल गया तो शाम की चिन्ता। एक दिन मां ने बेटे से कहा—बेटा! हमारे यहां से बारह कोस दूर एक योगीराज का आश्रम है। वे योगीराज वहां साधना करते हैं। वे बड़े ज्ञानी हैं। भूत, भविष्य और वर्तमान—इन तीनों कालों के ज्ञाता हैं। तुम उनके पास जाओ और पूछो कि महात्माजी! हमारी गरीबी कब मिटेगी? बेटा बड़ा विनीत था। विनीत बेटे का मिलना भी मां-बाप का भाग्य होता है। उसने कहा—मैं कल सुबह यहां से रवाना हो जाऊंगा और एक सप्ताह में वहां जाकर वापस आ जाऊंगा। चूंकि उस समय पैदल चलना होता था। वह आगे बढ़ा। करीब तीन कोस चला और थक गया। रास्ते में एक जाट का घर आया। वहां वह विश्राम करने के लिए रुका। दिनभर वह वहीं रहा। जाट ने पूछा—बेटे! कहां जा रहे हो? उसने कहा—मैं तो योगीराज के पास जा रहा हूं अपना कोई प्रश्न पूछने के लिए। जाट बोला—तुम वहां जा ही रहे हो तो एक प्रश्न मेरा भी पूछ लेना और उत्तर भी ले आना।

लड़का—आपका क्या प्रश्न है?

जाट—मेरी एक बेटी है। वह तेरह वर्ष की हो चुकी है, पर जन्म से ही बोलती नहीं है, मूक है। तुम योगीराज से पूछ लेना कि जाट की बेटी बोलना कब शुरू करेगी?

लड़का—ठीक है पूछ लूंगा। अगले दिन वह लड़का आगे बढ़ा। तीन-चार कोस चलने के बाद एक किसान के घर रूका। वार्तालाप के दौरान किसान

ने कहा—योगीराज बड़े ज्ञानी हैं। एक प्रश्न मेरा भी पूछ लेना कि मेरे खेत में पैदावार नहीं होती, उसका कारण क्या है?

लड़का—ठीक है पूछ लूंगा। लड़का अगले दिन फिर आगे बढ़ा और एक संन्यासी की कुटिया में रुका।

संन्यासी ने पूछा—कहां जा रहे हो बेटा?

लड़का बोला—महात्माजी! यहां से कुछ आगे एक योगीराज का आश्रम है। मैं उनके दर्शन करने और कुछ प्रश्न पूछने जा रहा हूं। संन्यासी ने कहा—तब तो मेरा भी एक प्रश्न पूछ लेना कि मुझे संन्यास लिए बीस वर्ष हो गए हैं। अब तक मुझे बोधि ज्ञान नहीं मिला, आत्मा का दर्शन नहीं हुआ, अतः मेरी साधना सिद्ध कब होगी?

लड़का—ठीक है पूछ लूंगा। चौथे दिन वह योगीराज के आश्रम में पहुंचा। वहां लोगों की बहुत भीड़ थी। बहुत लोग प्रश्न पूछने आए हुए थे। पंक्ति में चलते-चलते लड़के का नम्बर भी आया। उसने योगीराज को वंदन किया और बोला—महात्मन्! मैं कुछ प्रश्न पूछने आया हूं।

योगीराज—कितने प्रश्न हैं?

लड़का—चार प्रश्नों का जवाब आपसे चाहता हूं।

योगीराज—मेरा एक नियम है कि मैं एक आदमी को अधिकतम तीन प्रश्नों का जवाब दे सकता हूं। अब लड़के ने सोचा कि तीन प्रश्न तो दूसरों के हैं और एक मेरे अपने घर का है। कौनसा छोडूं? अब देखिए, कैसे उत्तमता की वृत्ति जागती है। उसने सोचा, दूसरों के सवाल तो पूछूंगा। मैं अपना प्रश्न छोड़ दूंगा। उसने दूसरों के तीनों प्रश्न पूछ लिए। बाबाजी ने उनका जवाब भी दे दिया। जवाब लेकर वह वापस रवाना हुआ तो सबसे पहले संन्यासी की कुटिया में रूका। संन्यासी बड़ा उत्सुक था, अपने प्रश्न का जवाब पाने के लिए।

लड़का—महात्मन्! योगीराज ने बताया है कि उस संन्यासी के पास एक कीमती हीरा है। उसका ध्यान तो उस हीरे में है, परिग्रह में है, आसक्ति में है। जब तक हीरा उसके पास रहेगा, उसकी साधना सिद्ध नहीं होगी। जिस दिन वह

हीरे का त्याग कर देगा, फिर जल्दी ही उसकी साधना सिद्ध हो जाएगी। संन्यासी ने तत्काल हीरा निकाला और लड़के को देते हुए कहा—बेटा! यह हीरा तुम ले लो। तुम्हारे तो काम आएगा और मेरे हीरा छोड़ने से साधना सिद्ध हो जाएगी। हीरा लेकर लड़का दूसरे दिन किसान के पास पहुंचा और उसे बताया कि आपके खेत में एक चरू है। उसमें स्वर्णमुद्राएं भरी हुई हैं। वह निकाल देने के बाद वहां अनाज पैदा होना शुरू हो जाएगा। किसान ने जमीन को खोदा तो वह स्वर्णमुद्राओं से भरा हुआ चरू निकला। किसान ने पुरस्कार स्वरूप आधी स्वर्णमुद्राएं उस लड़के को दे दीं और आधी स्वयं ने रख ली। अब लड़का एक हीरा और आधा चरू स्वर्णमुद्राएं लेकर तीसरे दिन जाट के घर पहुंचा। जाट ने भी उत्सुकता के साथ पूछा—बेटा! मेरे प्रश्न का जवाब लाए हो? लड़का—हां, लाया हूं। योगीराज ने कहा है कि वह लड़की जिस दिन अपने भावी पति को आंख से देख लेगी, तत्काल बोलना शुरू कर देगी। उस समय लड़की ननिहाल गई हुई थी। वह सायंकाल जैसे ही घर में आई, लड़के को देखा और बोलने लग गई।

जाट ने उस लड़के से कहा—आप तो मेरे जंवाई बन गए। तत्काल उसकी वहीं पर शादी कर दी। अगले दिन वह लड़का अपने घर आया। वृद्ध मां बड़ी इन्तजार में थी कि बेटा कब आएगा। उसके आते ही पूछा—बेटा! सवाल का जवाब ले आए?

लड़का बोला—मां! अपना सवाल तो मैंने पूछा ही नहीं, परन्तु मां चिन्ता मत करना। तुम्हारे प्रश्न का जवाब अपने आप मिल गया। अब गरीबी की बात है ही नहीं। लो, एक तो यह सवा लाख का हीरा, इतनी सारी स्वर्णमुद्राएं और तुम्हारे पांव दबाने के लिए बहू को भी लेकर आ गया। लड़के ने अपने स्वार्थ को छोड़ दिया तो अपने-आप उसकी समस्या का समाधान भी हो गया।

आदमी अपने जीवन में उत्तमता का विकास करे, त्याग, संयम का विकास करे, स्वार्थवृत्ति को छोड़ने का प्रयास करे, सेवा के पुनीत कार्य करे, अपनी आत्मा का कल्याण करे और साथ में दूसरों का भी कल्याण करे।

धम्मपद के अनुसार जीवन में श्रद्धा तो अच्छी है, पर श्रद्धा भी ज्ञानयुक्त होनी चाहिए, समझपूर्वक होनी चाहिए। सम्यक् दर्शन होना चाहिए। समझ-विहीन और ज्ञान-विहीन अंधश्रद्धा जीवन में नहीं होनी चाहिए। बात को पहले समझें, फिर उस पर श्रद्धा करें। जिसमें अंधश्रद्धा नहीं होती, जो निर्वाण के बारे में जानने वाला है, मोक्ष को जानने वाला है, शांति को जानने वाला है और जिसमें आशा, लालसा नहीं होती, तृष्णा नहीं होती, उस व्यक्ति को धम्मपद में उत्तम पुरुष कहा है। उत्तम पुरुष बनने का संकल्प पुष्ट बने, यह हमारे लिए कल्याणकारी हो सकेगा।

२३

पापों से बचें

बौद्ध साहित्य के महान् ग्रन्थ धम्मपद में कहा गया है–

पापोति पस्सति भद्रं, याव पापं न पच्चति।
यदा च पच्चति पापं, अथ पापो पापानि पस्सति।।९/४।।

जब तक पाप का फल नहीं मिलता है, तब तक पापी भी पाप को अच्छा ही समझता है, किन्तु जब पाप का फल मिलता है, तब उसे पाप दिखाई पड़ने लगते हैं।

आदमी पाप करता है और कई बार वह पाप करते हुए आनन्द भी लेता है। पाप उसे अच्छा भी लगता है। परन्तु जब पापकर्मों का फल मिलने लग जाता है और उसे यह ज्ञान हो जाता है कि मैंने अमुक पापकर्म किया था, उसका यह फल है, तब उसको पाप अच्छा नहीं लगता। फिर उसके मन में पाप से विरक्ति भी हो सकती है।

आदमी पहले पापकर्म कर लेता है। फिर सोचता है कि पापकर्म मुझे फल न दें। इसलिए मैं कहीं छिप जाऊं। भले वह छिपने के लिए आकाश में चला जाए या समुद्र के अंदर प्रविष्ट हो जाए, पर्वतों की गुफा में चला जाए, कहीं भी चला जाए, दुनिया में ऐसा कोई स्थान नहीं है। जहां जाकर आदमी अपने पापकर्मों के फल से अपना बचाव कर सके। पापकर्म किया है तो वह हमें छोड़ने वाला नहीं है। चाहे हम कहीं चले जाएं। इसलिए पाप के फल से बचने की अपेक्षा मनुष्य को इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि मैं पापकर्म करूं ही नहीं। जब पापकर्म करूंगा ही नहीं, तो फिर मुझे पापकर्म का फल भी नहीं मिलेगा।

साहित्य में दो शब्द आते हैं—परिणामकटु-आपातपटु अथवा परिणामपटु-आपातकटु। एक कार्य तत्काल करने में अच्छा लगता है, परन्तु उसका परिणाम बड़ा कटु होता है और एक कार्य तत्काल करने में कुछ कष्टदायी होता है, परन्तु उसका परिणाम अच्छा माना गया है। परिणाम पटु से कर्म निर्जरा होती है और साथ में पुण्य का बंध भी माना गया है। मनुष्य का चिंतन यह रहना चाहिए कि मैं पापों से बचने का प्रयास करूं। गृहस्थ समाज भी सोचे कि हम पापों से जितना संभव हो सके, बचने का प्रयास करें।

आदमी के मन में दुःखमुक्ति की कामना रहती है। दुःखमुक्ति दो प्रकार की होती है—तात्कालिक दुःखमुक्ति और शाश्वतिक दुःखमुक्ति। तात्कालिक दुःखमुक्ति के भौतिक उपाय भी हैं। जैसे गर्मी लगी और ए.सी. या कूलर की व्यवस्था हो गई तो एक बार दुःखमुक्तता आ जाएगी। सर्दी लगी और आसपास आग जला ली या हीटर आदि का प्रयोग कर लिया तो तात्कालिक रूप में सर्दी से मुक्ति मिल जाएगी। मच्छरों का कष्ट हुआ और मच्छरदानी लगा ली तो तात्कालिक दुःखमुक्ति हो गई। तात्कालिक दुःखमुक्ति तात्कालिक उपायों से हो सकती है, परन्तु जिसे शाश्वतिक दुःखमुक्ति इष्ट है, उसे शाश्वत की साधना करनी होगी। उसे अपने चित्त का निरोध और संयम करना होगा।

चित्त का संयम करना अध्यात्म की साधना है। कोई व्यक्ति पूर्णतया चित्त को साध भी नहीं सकता, परन्तु जो विशेष साधक होते हैं, आराधक होते हैं, वे चित्त-संयम की साधना कर भी सकते हैं।

धर्म के पथ पर चलें। अहिंसा की साधना करें। कोई कुछ भी कह दे तो हम शांति से जवाब दें। हमारा यह अभ्यास बढ़े तो कषाय-मंदता की साधना अपने-आप घटित हो सकेगी। हमें कषाय-मंदता प्राप्त हो जाए, समता की भूमिका प्राप्त हो जाए तो मानना चाहिए कि जीवन में बहुत बड़ी उपलब्धि हो गई है। उसके सामने पैसा, बड़े-बड़े मकान, अच्छी-अच्छी कारें छोटी चीज है, ना कुछ है। समता की साधना आ गई, वह सबसे उत्तम चीज है। हम उत्तम चीज को पाने का प्रयास करें।

२४

पाप से घड़ा भर न जाए

आदमी पाप भी करता है और पुण्य भी करता है। थोड़ा पाप करता है। वह भी अपना परिणाम लाता है और थोड़ा पुण्य का काम करता है, वह भी अपना परिणाम लाता है। बौद्ध साहित्य के महान् ग्रन्थ धम्मपद में कहा गया है—

मावमञ्ञेथ पापस्स न मन्तं आगमिस्सति।
उदबिन्दुनिपातेन उदकुम्भोपि पूरति।।
पूरति बालो पापस्स थोकथोकम्पि आचिनं।।९/६।।

'वह मेरे पास नहीं आएगा'—ऐसा सोचकर पाप की अवहेलना न करे। जैसे पानी की बूंद गिरने से घड़ा भर जाता है, ऐसे ही मूर्ख थोड़ा-थोड़ा संचय करते पाप को भर लेता है।

आदमी यह सोचकर उपेक्षा न करे कि थोड़ा-सा पाप है। क्या खास बात है। थोड़ा-थोड़ा पाप ही भारी पड़ सकता है। ग्रन्थकार ने सुन्दर व्यावहारिक उदाहरण दिया कि जिस प्रकार बूंद-बूंद से घड़ा भर जाता है, उसी प्रकार थोड़ा-थोड़ा पाप करते-करते पाप का घड़ा भर जाता है। पाप का भरा हुआ घड़ा कभी न कभी अवश्य फूटेगा और सारी बातें सामने आ जाएंगी। फिर उसका परिणाम भोगना पड़ेगा। परमपूज्य गुरुदेव तुलसी ने गीत में सुन्दर कहा है—

सत्यवादिता सझै न थांस्यूं तो रहणो चुपचाप है।
कपटाई कर झूठ बोलणो जग में मोटो पाप है।।

एक बार तो झूठ साच कर काम सारलै आपरो।
मोड़ो बेगो फूट्यां सरसी घड़ो भरीज्यां पाप रो।
आ लखणां स्यूं आखिर आवै पांती पश्चात्ताप है।।

सत्य के प्रसंग में कहा गया कि अगर आदमी से सत्यवादिता न रह सके तो फिर चुप रहने का प्रयास करना चाहिए। बोले तो सत्य बोले या फिर मौन कर ले। गार्हस्थ्य में सर्वथा असत्य से बचना मुश्किल होता है। साधु के तो जिन्दगी भर के लिए झूठ बोलने का त्याग होता है, परन्तु गृहस्थ के लिए व्यापार-धन्धे में, टैक्स के मामले में और कहीं-कहीं झूठ बोलने की नौबत आ जाती है। फिर भी जहां तक हो सके, झूठ बोलने से बचना चाहिए।

मैं एक बार सिरसा (हरियाणा) गया था। लोगों ने मुझे एक भाई से परिचय करवाया कि इसने जिन्दगी भर के लिए झूठ बोलने का पांच बार के आगार से त्याग कर लिया है। मुझे अच्छा लगा कि आदमी एक दिन में भी कई बार झूठ बोल सकता है वहां इसने जिन्दगी भर के लिए मात्र पांच बार का आगार रखकर सम्पूर्ण झूठ बोलने का त्याग कर दिया। संकल्प हो, मनोबल हो तो आदमी झूठ से काफी अपना बचाव कर सकता है। जिस प्रकार छोटे-छोटे पाप बार-बार करते रहने से पाप का घड़ा भर जाता है, उसी प्रकार छोटे-छोटे पुण्य का काम करने से पुण्य का घड़ा भी भर जाता है। गुस्से का प्रसंग आया उस समय क्षमा का प्रयोग कर लिया। अहंकार का प्रसंग आया तब नम्रता का प्रयोग कर लिया। माया करने की स्थिति आई तब सरलता रखी। लोभ का प्रसंग आने पर संतोष रखा। किसी को अच्छा धर्म का रास्ता बताया। साधु-साध्वियों की सेवा-उपासना की। इनसे पुण्य का बंध माना गया। यों बार-बार पुण्य का अर्जन होने से पुण्य का घड़ा भी भर जाता है। पाप का घड़ा फूटने से कटु परिणाम मिलते हैं और पुण्य का घड़ा फूटने से अच्छे परिणाम मिलते हैं। जैसी चीज है, वैसी सामने आ जाती है। अमृत का घड़ा फूटेगा तो अमृत फैल जाएगा और कीचड़ का घड़ा फूटेगा तो कीचड़ फैल जाएगा। घड़े में जो चीज है वह बाहर आ जाती है। तो आदमी को प्रयास यह करना चाहिए कि मैं पाप के घड़े में कुछ भी न डालूं। पाप का घड़ा रहे ही नहीं। पुण्य का घड़ा रहे। रोज

पवित्र कार्य करूं और अपने पुण्य के घड़े को, धर्म के घड़े को भरूं।

आदमी को सोने से पहले रोज सोचना चाहिए कि आज मैंने सुकृत क्या किया? पुण्य का कार्य क्या किया? प्रतिदिन हिसाब लगाना चाहिए। जैसे व्यापारी अपने पैसे का, कमाई का हिसाब लगाता है, वैसे ही आदमी को अपने सुकृत का हिसाब लगाना चाहिए। स्थूल भाषा में रोज सूर्य आता है और चला जाता है। रोज जाने के साथ वह हमारे जीवन काल का एक टुकड़ा भी साथ में ले जाता है। एक-एक टुकड़ा कम होते-होते एक समय आता है, आदमी के जीवन का अवसान हो जाता है। जब जन्मदिन आता है तो आदमी खुशी से उसको मनाता है। किन्तु साथ में यह आत्मचिंतन भी करना चाहिए कि मेरे जीवन काल का एक वर्ष और कम हो गया है। पिछला एक वर्ष जो हाथ में था वह भी अब कम हो गया। इसलिए मैं इस बात के प्रति जागरूक बनूं कि मैं कैसे धर्म का संचय करूं, कैसे धर्म से मेरे जीवन का घड़ा भरूं ताकि मुझे उसका अच्छा परिणाम मिल सके।

जो आदमी अपने इस आत्मा के घड़े को धर्म से नहीं भरता है या पाप से भर लेता है, वह जब अगली गति में जाता है, तो उसे दुःख भोगना पड़ता है, कठिनाइयां भोगनी पड़ती हैं। जो व्यक्ति अपने आत्मा रूपी घड़े को धर्म से भरता है, उसके पुण्य का संचय हो जाता है। वह व्यक्ति अगली गति में जाता है, तो उसे सुख मिलता है, आनन्द मिलता है। हमें केवल वर्तमान जीवन को ही नहीं देखना है। हमें आगे पर भी ध्यान देना है। जिनको सत्तर-अस्सी वर्ष की उम्र आ गई, वे तो और ज्यादा अगली गति पर ध्यान दें। अगली गति कैसे अच्छी रहे। उसके लिए आवश्यक है जीवन में संयम का अभ्यास हो। त्याग को बढ़ाए, सामायिक करे, पौषध करे और कषाय मंदता की साधना करे, दूसरों का कल्याण करे। ऐसे कार्यों से धर्म का संचय होता है, जिससे पुण्य का संचय भी हो जाता है। धर्म और पुण्य साथ में है तो अगली गति भी अच्छी होने की संभावना बन जाती है।

उत्तराध्ययन का सुन्दर सूक्त है 'कत्तारमेवं अणुजाइ कम्मं' कर्म कर्ता का अनुगमन करता है। हिन्दी व्याकरण को देखने पर ज्ञात होता है कि कर्ता के अनुसार क्रिया चलती है, जैसे–राम जाता है और सीता जाती है। राम पुल्लिंग

है तो क्रिया भी पुल्लिंग की आ गई और सीता स्त्रीलिंग है तो क्रिया भी स्त्रिलिंग की आ गई। क्रिया कर्ता का अनुगमन करती है। इसी तरह आदमी जैसा कर्म करता है, वह कर्म करने वाले का अनुगमन करता है। हमने जो कर्म किए हैं, उसका फल हमें भोगना पड़ेगा, या तो हम तपस्या से कर्मों को क्षीण कर दें वरना फल हमें भोगना पड़ेगा। यह अवधारणा मन में रहनी चाहिए। आदमी को पापकर्म करना ही नहीं चाहिए। चूंकि हंस हंसकर पापकर्म कर लिए जाते हैं फिर रोने पर भी वे नहीं छूटते हैं। अतः आदमी निरन्तर जागरूक रहे कि मेरे द्वारा पापकर्म न हो जाएं। प्रश्न हो सकता है कि पापकर्म कौनसे होते हैं? प्राणातिपात, मृषावाद आदि अठारह पापस्थान हैं।

● हिंसा करना—किसी की हत्या कर देना, प्राणियों को जानबूझकर तकलीफ देना, मारना-पीटना, लड़ाई-झगड़ा करना, किसी को दुःख देना पाप है। एक चींटी को भी दुःख देना पाप है।

● झूठ बोलना—क्रोध के वशीभूत होकर झूठ बोलने से, लोभ के कारण से, भयभीत होकर झूठ बोलने से, हंसी-मजाक में झूठ बोलने से, छल-कपट करने से पापकर्म का बंध होता है। इसलिए आदमी को बच्चे जैसी सरलता रखनी चाहिए और छल-कपट और झूठ बोलने से बचने का प्रयास करना चाहिए।

● चोरी करना—बिना पूछे किसी की चीज लेना पाप है। पराए धन को आदमी धूल के समान समझे। दूसरों की वस्तु न ले, चोरी करने से बचे।

● मैथुन सेवन करना पाप है। कम से कम आदमी स्वदार और स्वपति के सिवाय त्याग रखे। कुछ व्यक्ति तो पूर्ण ब्रह्मचर्य को स्वीकार करते हैं, किन्तु उतना सबसे न हो सके तो स्वदार व स्वपति के सिवाय वेश्यागमन और परस्त्री का त्याग रखना चाहिए।

● परिग्रह भी पाप है। वैसे तो गृहस्थ जीवन में परिग्रह रखना अनिवार्य-सा होता है, किन्तु अति परिग्रह न हो, ज्यादा इच्छाएं न हों। इच्छाओं का संयम होना चाहिए।

इस प्रकार ये पांच पाप हैं। क्रोध आदि तेरह पाप और बताए गए हैं।

इनसे बचने का यथासंभव प्रयास करना चाहिए और जीवन में अनुकंपा की चेतना का विकास करना चाहिए। जितना अनुकंपा का विकास होगा, संयम का विकास होगा, तपस्या होगी, उतना धर्म का घड़ा भरेगा। पाप करते रहेंगे तो पाप का घड़ा भर जाएगा। हम प्रयास करें कि पाप का घड़ा न भरें, धर्म का घड़ा भरें।

२५

परमसुखी कौन ?

बौद्ध साहित्य के महान् ग्रन्थ धम्मपद में कहा गया है–

नत्थि रागसमो अग्गि नत्थि दोससमो कलि।
नत्थि खन्धसमा दुक्खा नत्थि सन्तिपरं सुखं ।।१५/६ ।।

राग के समान अग्नि नहीं है। द्वेष के समान मल नहीं है (पंच) स्कन्ध के समान दुःख नहीं, (और) निर्वाण से बढ़कर सुख नहीं है।

प्रस्तुत श्लोक में चार बातें बताई गई हैं। पहली बात बताई गई कि राग के समान कोई अग्नि नहीं है। सांसारिक प्राणी में राग होता है। राग भाव कई बार इतना तीव्र हो जाता है कि वह मानो जलाने वाला हो जाता है, अग्नि बन जाता है। जैसे धन के प्रति किसी का खूब मोह है और उसका धन चुरा लिया गया या नष्ट हो गया, तो अति राग भाव वाले व्यक्ति को बड़ा कष्ट होता है। वह राग आग बन जाता है। किसी व्यक्ति विशेष के प्रति अनुराग है, अतिमोह है और उसका वियोग हो गया तो मन में कितना संताप होता है। वहां भी राग आग के रूप में सामने आ जाता है। कोई पदाकांक्षा मन में जाग गई कि मुझे अमुक पद मिले और अगर वह स्थान नहीं मिलता है तो आदमी को कितना कष्ट होता है। वहां भी राग आग बन जाता है। दूसरी बात बताई गई कि द्वेष के समान कोई मल नहीं है। द्वेष व्यक्ति से भी होता है, द्वेष पदार्थों से भी हो जाता है और द्वेष विचारों से भी हो जाता है, सिद्धान्तों से भी हो जाता है। द्वेष का भाव हमारे चित्त को मलिन बनाने वाला होता है। राग है तो प्रायः द्वेष भी उस आदमी में होता है और द्वेष है तो राग भी उस आदमी में होता है। तीसरी

बात बताई कि बौद्ध सिद्धान्त में पंच स्कन्ध बताए गए हैं—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान। इनके समान कोई दुःख नहीं माना गया। चौथी बात बताई गई कि शांति से बढ़कर कोई सुख नहीं होता है। आदमी के पास बहुत पैसा है, बड़े-बड़े मकान हैं, परन्तु चित्त में अगर शांति नहीं है तो वह पैसा भी और मकान भी सुख देने वाला नहीं बन सकता। एक गरीब आदमी भी शांति में रह सकता है और धनवान आदमी भी अशांति में रह सकता है।

एक धर्मगुरु प्रवचन कर रहे थे। उन्होंने शांति की बात बताई। एक प्रबुद्ध श्रोता खड़ा हुआ और बोला—महात्माजी! इतनी बड़ी आपकी परिषद् है। इसमें सबसे ज्यादा सुखी और शांतिमान आदमी कौन है? गुरु ने कहा—परिषद् की अंतिम पंक्ति में एक फटेहाल व्यक्ति बैठा है, वह इस परिषद् में सबसे सुखी व्यक्ति है। लोगों ने पूछा—महाराज! वह सुखी कैसे हुआ? उसके पास तो तन ढकने के लिए पूरा कपड़ा भी नहीं है। धर्मगुरु ने कहा—शांति सबसे बड़ा सुख है और उसके मन में शांति है। श्रोता ने पूछा—शांति का कारण क्या है? गुरु ने कहा—अशांति का एक कारण है कामना। जिसके मन में कामना ज्यादा होती है, इच्छाएं ज्यादा होती हैं, लालसाएं ज्यादा होती हैं, वह व्यक्ति अशांत ज्यादा हो जाता है। यदि कामना की पूर्ति हो जाती है तो कामना को और आगे बढ़ने का मौका मिल जाता है और अगर कामना की पूर्ति नहीं होती है तो मन में दुःख पैदा हो जाता है। जहां कामना है वहां दुःख तैयार रहता है। दसवेआलियं में कहा गया—'कामे कमाहि कमियं खु दुक्खं' तुम कामना का अतिक्रमण करो, दुःख अपने आप अतिक्रांत हो जाएगा। श्रोता ने सोचा कि मुझे परीक्षण करना चाहिए। वह कई व्यक्तियों से मिला और पूछा—आपके कोई कामना है? एक ने कहा—मेरे कोई संतान नहीं है, पुत्र-प्राप्ति की कामना है। पुत्र न होने से मैं दुःखी हूं। दूसरे आदमी ने कहा—मेरे पास धन नहीं है। मेरे मन में धन की बड़ी चाह है। धन नहीं होने से मैं बड़ा दुःखी हूं। तीसरे ने कहा—मैं मंत्री बनना चाहता हूं। चौथे व्यक्ति ने कहा—मेरा माल बिक नहीं रहा है। इसलिए मैं दुःखी हूं। माल बिक जाए तो मुझे शांति मिल जाएगी। इस प्रकार वह कई लोगों से मिला। किन्तु उन सबके मन में कामना दिखाई दी और कामना के कारण उनके मन में दुःख भी था। आखिर वह उस व्यक्ति से मिला

जो फटेहाल था। उससे पूछा—भैया! तुम्हारे मन में कोई चाह है? वह बोला—बाबूजी! मेरे मन में कोई चाह नहीं है। जैसा मुझे मिल जाता है, मैं तो उसी में संतुष्ट हूं। खाने को मिलता है तो खा लेता हूं। नहीं मिलता है तो तपस्या मान लेता हूं। जैन वाङ्मय में कहा गया कि साधु को कभी भिक्षा में भोजन न मिले तो साधु यह सोचे कि आज मेरे अनायास तपस्या हो गई। यदा-कदा मैं चिंतनपूर्वक तपस्या करता हूं। आज भिक्षा में अलाभ होने से सहज ही मुझे उपवास करने का मौका मिल गया। भिक्षा न मिले तो भी साधु को कभी दुःखी नहीं होना चाहिए। उपवास या तपस्या मानकर सानन्द उसे स्वीकार करना चाहिए। उस फटेहाल व्यक्ति ने कहा कि मेरे मन में कोई चाह नहीं है। मैंने कामनाओं का अतिक्रमण कर दिया है। श्रोता फिर धर्मगुरु के पास पहुंचा और बोला—महाराज! आपने जो कहा था, वह बात बिल्कुल सही है। वह फटेहाल व्यक्ति इस परिषद् का सबसे सुखी है। क्योंकि उसके मन में कोई कामना नहीं है।

आदमी को शांति प्राप्ति के लिए आकांक्षाओं का परित्याग करना चाहिए। जैन श्रावकाचार में श्रावक के बारहव्रत आते हैं। उनमें पांचवां व्रत है—इच्छा परिमाण। अनिच्छ बनना तो सबके लिए संभव नहीं, परन्तु आदमी महेच्छ यानी ज्यादा इच्छा वाला न बने अपितु अल्पेच्छ बने। वह इच्छाओं की सीमा करने वाला बने। इच्छाओं की सीमा हो जाती है, संतोष मन में आ जाता है तो आदमी को सुख मिलता है।

जो मूढ़ हैं, मोहग्रस्त हैं, वे असंतोष परायण होते हैं और जो पण्डित होते हैं, वे संतोष को प्राप्त होते हैं। जिस आदमी ने संतोष को धारण कर लिया है, उसे परम सुख की प्राप्ति हो सकती है। गार्हस्थ्य में भी आदमी काफी सुखी रह सकता है बशर्ते कि वह कामना व लालसा का परिसीमन कर ले, इच्छा परिमाण व्रत को धारण कर ले, त्याग और संयम को अपने जीवन में धारण कर ले।

हम राग भाव को कम करने का प्रयास करें, द्वेष को क्षीण करने का प्रयास करें, दुःखमुक्ति की साधना करें और शांति जैसे परम सुख को पाने का प्रयास करते रहें।

२६

परमसुख का पथ : निर्वाण

बौद्ध साहित्य के महान् ग्रन्थ धम्मपद में कहा गया है–

आरोग्यपरमा लाभा सन्तुट्ठी परमं धनं।
विस्सासपरमा ञाती निब्बानं परमं सुखं।।१५/८।।

नीरोग होना परम लाभ है। सन्तोष परम धन है। विश्वास सबसे बड़ा बन्धु है। निर्वाण सबसे बड़ा सुख है।

प्रस्तुत श्लोक में धम्मपदकार ने चार बातें बताईं। पहली बात– 'आरोग्यपरमा लाभा' अर्थात् आरोग्य होना, नीरोग होना परम लाभ है। संस्कृत का सुन्दर सूक्त है–'शरीरं व्याधिमन्दिरम्' यानी शरीर तो व्याधियों का घर है। व्याधियां न हों तो विशेष बात है। आदमी स्वस्थ है और पता नहीं किस समय अचानक रोग उभर जाए? जो जिन्दगीभर नीरोग रहते हैं, ऐसे कम लोग मिलेंगे। लम्बा आयुष्य प्राप्त करे और जिन्दगी में कभी बीमारी न आए तो खास बात है। जो आरोग्य को प्राप्त हैं, उन्हें यह ध्यान देना चाहिए कि हम आरोग्य का उपयोग करें। स्वस्थ शरीर का अच्छे कार्यों में उपयोग करें। दसवेआलियं में कहा गया–

जरा जाव न पीलेइ, वाही जाव न वड्ढई।
जाविंदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे।।८/३५।।

जब तक आदमी को बुढ़ापा पीड़ित न करे। शरीर में व्याधियां न बढ़े और इन्द्रिय-शक्ति क्षीण न हो। तब तक आदमी को धर्म का समाचरण कर लेना चाहिए। जब तक शरीर नीरोग है, उसका उपयोग परकल्याण में,

स्वकल्याण में, धर्म की साधना-आराधना में करना चाहिए। शरीर नीरोग रहे और हमारा शरीर संयम की साधना करे तो विशेषता है। शरीर को नीरोग रखना कुछ तो हाथ की बात नहीं है। कर्मों का ऐसा उदय होता है। ऐसा कोई असातवेदनीय का योग होता है कि आदमी को व्याधि हो जाती है। परन्तु हम शरीर का यदि ध्यान रखें, खान-पान का संयम रखें, रहन-सहन का संयम रखें, आसन-प्राणायाम आदि का अभ्यास करते रहें, भावों को शुद्ध रखें तो संभव है कि हमारा स्वास्थ्य काफी अच्छा रह सकता है।

दूसरी बात—'सन्तुट्ठी परमं धनं' अर्थात् संतोष परम धन है। अन्य धन तो सीमित होते हैं। संतोष आ गया तो असीम धन पास में आ गया, परम धन पास में आ गया। जो अकिंचन होता है, अपरिग्रही होता है, संतोषी होता है, वह तीन लोक का नाथ कहलाता है। जिसके पास जितना है वह उतने का मालिक होता है। परन्तु जिसने सब कुछ त्याग दिया, साधु बन गया, वह तीन लोक का नाथ बन जाता है।

तीसरी बात—'विस्सासपरमा ञाती' अर्थात् विश्वास परम बन्धु है। आदमी को विश्वास प्राप्त हो जाए तो बहुत बड़ी उपलब्धि हो जाती है। कुछ समय पहले जब रजवाड़े होते थे, तब हमारे साधु-साध्वियां रावलों में जाते, जहां ठुकरानियां रहतीं, वहां अन्दर भी चले जाते। क्योंकि साधु का विश्वास होता है। जहां औरों को जाने का सामान्यतया निषेध हो, वहां भी साधु को जाने की छूट मिलती थी। क्योंकि साधु त्यागी है, ब्रह्मचारी है, अपरिग्रही है। साधना के प्रति विश्वास हो तो आदमी के प्रति सम्मान का भाव जागता है।

गुरुदेव तुलसी बाईस वर्ष की अवस्था में पूज्य कालूगणी द्वारा आचार्य बना दिए गए। इसका अर्थ है मुनि तुलसी ने विश्वास प्राप्त किया था पूज्य कालूगणी का। तभी इतनी छोटी अवस्था में एक बड़े संघ का जिम्मा सौंप दिया। हम दूसरों के विश्वासपात्र बनें। विश्वासपात्र बनने के लिए अनेक बातें हैं। उनमें एक बात है—हम सत्यवादिता यानी ईमानदारी के पथ पर चलें। ईमानदारी से विश्वास बढ़ता है। एक दुकानदार यदि प्रामाणिकता के साथ अपना व्यवसाय करता है तो उसका विश्वास बढ़ता है। धोखाधड़ी करेगा तो विश्वास नष्ट हो सकता है। इसलिए आदमी को प्रामाणिकता के पथ पर चलना

चाहिए ताकि उसका विश्वास बढ़ता रहे। जैसे श्वास जरूरी है, वैसे जीवन में कुछ अर्थों में, कुछ स्थितियों में विश्वास भी अपेक्षित होता है। विश्वसनीयता को आदमी बनाए रखने का प्रयास करे।

चौथी बात—'निब्बाणं परमं सुखं' अर्थात् निर्वाण सबसे बड़ा सुख है। निर्वाण का एक अर्थ है मोक्ष। निर्वाण का दूसरा अर्थ है शांति। जिसने शांति को प्राप्त कर लिया या मोक्ष को प्राप्त कर लिया, उसने परम सुख को प्राप्त कर लिया। भगवान् महावीर ने निर्वाण की साधना की, समता की साधना की, अनेक कष्ट सहे, अनेक उपसर्ग झेले और आखिर एक दिन निर्वाण को प्राप्त कर लिया। न केवल एक भगवान् महावीर ने, हमारे चौबीस तीर्थंकरों ने और अनंत केवलज्ञानियों ने साधना के द्वारा अपनी समता की साधना को साधा और फिर निर्वाण को प्राप्त हो गए।

साधक का यह लक्ष्य रहना चाहिए कि मुझे निर्वाण प्राप्त हो जाए और निर्वाण को प्राप्त करने के लिए साधना करने की अपेक्षा होती है। जो व्यक्ति साधनाशील होता है, साधना को पुष्ट करने वाला होता है। जिसका लक्ष्य वीतरागता बन गया है और जो वीतरागता की दिशा में आगे बढ़ रहा है, वह व्यक्ति निरन्तर बढ़ते-बढ़ते अपनी मंजिल को भी प्राप्त कर सकता है।

जीवन में कोई सुन्दर लक्ष्य बन जाए और लक्ष्यानुरूप आदमी का पुरुषार्थ, पराक्रम चले तो वह व्यक्ति अपनी मंजिल को, गन्तव्य को प्राप्त कर सकता है। हमारी दुनिया में अनेक प्रकार के प्राणी हैं। प्राचीन साहित्य में प्राणियों की चौरासी लाख योनियां मानी गई हैं। मुझे कोई पूछे कि सभी प्राणियों में सबसे अच्छा प्राणी कौनसा है? मेरा उत्तर होगा कि आदमी सबसे अच्छा प्राणी है। पुनः प्रश्न हो सकता है कि आदमी को सबसे अच्छा प्राणी क्यों कहा? उसका उत्तर यह है कि आदमी के पास ऐसी शक्ति है कि वह परमात्मा बन सकता है। अन्य कोई भी प्राणी सीधा परमात्मा नहीं बन सकता। यह जैनधर्म का सिद्धांत है। आदमी के पास जैसा दिमाग है, वैसा दिमाग अन्यत्र दुर्लभ है। आदमी ने कितनी-कितनी वैज्ञानिक खोजें की हैं। विज्ञान ने बहुत बड़े आविष्कार किए हैं। कम्प्यूटर, रोबोट आदि अनेक उपकरणों का

निर्माण मनुष्य के मस्तिष्क की उपज हैं। आदमी के पास जैसी विवेक शक्ति है वैसी प्रायः दृश्य दुनिया के अन्य प्राणियों में मिलनी कठिन है। इन आधारों पर आदमी को श्रेष्ठ प्राणी कहा जा सकता है।

मैं दूसरे पहलू पर आना चाहता हूं। मुझे कोई यह पूछे कि इस दुनिया में सबसे खराब प्राणी कौन है? मेरा उत्तर होगा कि सबसे खराब प्राणी आदमी है। हमारी इस दृश्यमान दुनिया में आदमी से घटिया प्राणी मिलना मुश्किल है। एक पशु हिंसा करेगा तो दिन में दो-चार प्राणियों को मारेगा, परन्तु एक आदमी के दिमाग में हिंसा का भूत सवार हो जाए तो वह थोड़ी देर में भयंकर विनाश की लीला दिखा सकता है। ऐसा विनाश अन्य किसी प्राणी के वश की बात नहीं है। हमारे भीतर एक भावों का जगत् है। उसमें अच्छे भाव भी हैं, बुरे भाव भी हैं। हमारे भीतर हिंसा का बीज भी है और अहिंसा का बीज भी है। हम अच्छे संस्कारों को, अच्छे भावों को पुष्ट करें और बुरे भावों को छोड़ें।

२७

संगति का फल

बौद्ध साहित्य के महान् ग्रन्थ धम्मपद में कहा गया है—

बालसंगतिचारी हि दीघमद्धान सोचति।
दुक्खो बालेहि संवासो अमित्तेनेब सब्बदा।।
धीरो च सुखसंवासो ञातीनं'व समागमो।।१५/११।।

मूढ़ों की संगति में रहने वाला दीर्घकाल तक शोक करता है, मूढ़ों का सहवास शत्रु की तरह सदा दुःखदायक होता है। बन्धुओं के समागम की भांति धीरों का सहवास सुखद होता है।

हमारी दुनिया में लोग अपना-अपना मित्र बनाते हैं। कई बचपन में बने हुए मित्र लम्बे काल तक अपनी मित्रता को निभाते हैं। मित्रता अगर अच्छे व्यक्ति की होती है तो वह सुखदायी, कल्याणकारी हो सकती है और मित्रता अगर मूढ़ या मूर्ख आदमी की हो जाए तो वह कष्टप्रद भी हो सकती है। धम्मपदकार ने कहा कि जो अज्ञानी की संगति करता है, उसे लम्बे काल तक पछताना पड़ता है, शोक करना पड़ता है और कभी दुर्भाग्य से दुर्जन आदमी का सम्पर्क हो जाए, संग हो जाए तो वह कष्टदायी हो जाता है। चौपाई में कहा गया—

बंदौं संत असज्जन चरना दुखप्रद उभय बीच कछु बरना।
बिछुरत एक प्रान हरि लेई, मिलत एक दुख दारून देई।।

गोस्वामीजी ने कहा—मैं सज्जन और दुर्जन दोनों को ही नमस्कार करता हूं। ये दोनों ही दुःखदायी होते हैं। इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है। सज्जन

आदमी साथ में रहता है। फिर जब उसका वियोग होता है तो मन में कष्ट होता है और दुर्जन आदमी मिलता है, साथ में रहता है, तब वह कष्टकारी होता है। भले आदमी का वियोग कष्टप्रद हो जाता है और दुर्जन आदमी का संयोग कष्टप्रद हो जाता है। आदमी संगति में जागरूक रहे कि किसकी संगति करे? भारतीय साहित्य में सत्संगत का बड़ा महत्त्व रहा है। 'साधूनां दर्शनं पुण्यं तीर्थभूता हि साधवः' अर्थात् साधु चलते-फिरते तीर्थ होते हैं। उनका दर्शन करना बड़ा लाभदायी होता है। अन्य तीर्थों की यात्रा तो कभी फले या न फले, कभी देरी से फले, किन्तु साधुओं के समागम को शीघ्र फल देने वाला कहा गया है। क्योंकि साधुओं की संगति से भाव शुद्ध होते हैं। साधुओं की संगति मिले तो अच्छी बात है। कभी न भी मिले और अन्य किसी की भी संगति करे तो भले मनुष्यों की संगति करे। काले आदमी के साथ गोरा रहे तो रंग भले न आए, अगर काले या गोरे व्यक्ति में दुर्गुण हैं तो उसकी ज्यादा संगति करने से दुर्गुणों का प्रभाव संगति करने वाले पर आ सकता है। इसलिए हमें संगति पर भी ध्यान देना चाहिए। केवल मनुष्यों की ही संगति नहीं, आदमी साहित्य भी कैसा पढ़ता है, साहित्य की संगति कैसी है? अगर शिष्ट साहित्य पढ़ता है, अच्छा साहित्य पढ़ता है तो अच्छे संस्कार आने की संभावना रहती है। अगर आदमी अश्लील साहित्य, खराब साहित्य पढ़ता है तो खराब संस्कार आने की संभावना रहती है। चित्र भी आदमी किस प्रकार के देखता है। अगर अच्छे ज्ञानियों के, साधकों के चित्रों को देखा जाए तो अच्छे संस्कार मिलने की संभावना है। अगर खराब चित्रों को देखा जाए तो खराब संस्कार आने की संभावना है। जैन मुनि के लिए विधान है—'चित्तभित्तिं न निज्झाए।' साधु चित्रभित्ति को न देखे यानी जिस पर औरतों के चित्र हों ऐसी चित्रभित्ति को ध्यान लगाकर न देखे। एक साधु ब्रह्मचारी है, वह विलासितापूर्ण औरतों के चित्रों को देखता है तो उसके मन में कलुषता पैदा हो सकती है। यदि व्यक्ति किसी वीतराग पुरुष का चित्र देखेगा, भगवान् महावीर का फोटो देखेगा तो कुछ वीतरागता की प्रेरणा मिलने की संभावना है। चित्रों को देखें तो भी अच्छे चित्रों को देखें। ताकि अच्छी प्रेरणा मिल सके। चित्र के द्वारा भी आदमी के चरित्र का निर्माण हो सकता है।

दूसरी बात है फोटो के माध्यम से उस चेतनामान आदमी की स्मृति हो जाती है। भगवान् महावीर तो अभी विद्यमान नहीं हैं, परन्तु उनके फोटो को देखने से या मूर्ति को देखने से उस आत्मा की स्मृति हो सकती है। आजकल तो फोटो से आगे वीडियो भी है। वीडियो को देखने से वह व्यक्तित्व भी सामने आ जाता है और भाषा भी सामने आ जाती है। मानो उनका लगभग साक्षात् अवलोकन-सा हो जाता है। अच्छा चित्र है तो अच्छे चरित्र का निर्माण और बुरा चित्र है तो दुश्चरित्र का भी निर्माण हो सकता है। टी.वी. के भी अच्छे दृश्यों को देखा जाए, अच्छी बातों को सुना जाए तो अच्छी प्रेरणा मिल सकती है और टी.वी. के खराब दृश्यों को देखा जाए, खराब श्रव्यों को सुना जाए तो चित्त पर उसका खराब असर भी हो सकता है। यह संगति की जो बात है, वह केवल व्यक्ति की ही संगति नहीं, साहित्य, वीडियो, टी.वी. आदि-आदि की संगति अगर अच्छी होती है तो अच्छी प्रेरणा मिलती है, अच्छे संस्कार मिलते हैं। अच्छे लोगों के सम्पर्क में रहने वाला व्यक्ति अपना गुणात्मक विकास कर सकता है।

जैन वाङ्मय में श्रमण निर्ग्रन्थों की पर्युपासना करने से दस लाभ बताए गए हैं–

सवणे नाणे विण्णाणे, पच्चक्खाणे य संजमे।
अनह्वे तवे चेव, वोदाणे अकिरिया सिद्धि।।

श्रमणों की, साधुओं की पर्युपासना करने से कुछ ज्ञान की बात सुनने को मिलती है। श्रवण होने से ज्ञान बढ़ता है। ज्ञान का फल है विज्ञान। विज्ञान का फल है प्रत्याख्यान। प्रत्याख्यान का फल है संयम। संयम का फल है अनाश्रव। अनाश्रव का फल है तप। तप का फल है व्यवदान यानी कर्मों का विच्छेद। व्यवदान का फल है अक्रिया। अक्रिया का फल है शाश्वत सिद्धि। साधुओं की संगति से लाभों की लम्बी शृंखला बताई गई है। और तो क्या कुछ जानवर भी अच्छे सम्पर्क में रहने से अच्छी बात सीख जाते हैं और खराब सम्पर्क में रहने से खराब बात सीख जाते हैं।

धम्मपदकार ने कहा कि जो अज्ञानियों की संगति में रहने वाला है। वह दुःख को प्राप्त होता है और जो अच्छे व्यक्तियों की, धीर व्यक्तियों की

संगति में रहने वाला है, वह सुख और शांति को प्राप्त होता है। एक सुंदर विवेक दिया गया कि आदमी को सम्पर्क हमेशा अच्छों का करना चाहिए। कितने-कितने लोग साधुओं के सम्पर्क में आते हैं। कइयों के मन में साधु बनने की भावना पैदा हो जाती है। कइयों में अच्छे संस्कार आ जाते हैं। कई अच्छे ज्ञानी बन जाते हैं, वहीं अज्ञानियों की संगत में रहने से उसकी भाषा भी अशिष्ट हो जाती है। संस्कार भी खराब हो जाते हैं। एक बहिन से संतों ने पूछा कि तुम्हारा बच्चा भद्दी गालियां देता है। तुम तो अच्छे घर की महिला हो, यह गालियां कहां से सीख गया? बहिन ने अपनी विवशता बताई कि मैं और इसके पिता तो ऑफिस चले जाते हैं। इसको पीछे नौकर के भरोसे छोड़ते हैं। नौकर की भाषा थोड़ी अशिष्ट है। वह बात-बात में गालियां देता है। नौकर के पास ज्यादा रहने से यह गालियां सीख गया। कहने का तात्पर्य है कि सम्पर्क का असर होता है। अच्छों की संगति से अच्छा लाभ और बुरों की संगति से नुकसान होने की संभावना रहती है।

२८

असली सारथी कौन?

बौद्ध साहित्य के महान् ग्रन्थ धम्मपद में कहा गया है—

यो वे उप्पतितं कोधं रथं भन्तं'व धारये।
तमहं सारथिं ब्रूमि। रस्मिग्गाहो इतरो जनो।।१७/२।।

जो चढ़े क्रोध को भ्रमण करते रथ की भांति रोक लेता है। उसी को मैं सारथी कहता हूं, दूसरे तो केवल लगाम पकड़ने वाले हैं।

हमारे भीतर अनेक वृत्तियां काम करती हैं। उनमें दो वृत्तियां मुख्य हैं—राग की वृत्ति और द्वेष की वृत्ति। द्वेष की वृत्ति के परिवार का एक सदस्य है गुस्सा। आदमी को यदा-कदा क्रोध आ जाता है। क्रोध करना कोई बड़ी बात नहीं है, परन्तु बड़ी बात है आते हुए क्रोध को रोक लेना। धम्मपदकार ने कहा कि जैसे चलते हुए रथ को कोई रोक लेता है, उस रथ को रोकने वाला या घोड़े को रोकने वाला तो मात्र लगाम को पकड़ने वाला है वह तो केवल रश्मिग्राही कहलाता है, किन्तु जो अपने गुस्से को रोक लेता है, वह वास्तव में सारथी होता है। अब प्रश्न होता है कि आते हुए गुस्से को कैसे रोका जाए? एक संत के पास एक लड़का आया और बोला—महाराज! मैं गुस्से से आक्रान्त हूं। मुझे बात-बात में तेज आवेश आ जाता है। फिर मैं गालियां भी दे देता हूं और कई बार मारपीट भी करना शुरू कर देता हूं। मुझे आप कोई प्रयोग बताएं कि गुस्से को कम कैसे किया जाए? संत ने एक प्रेक्टिकल और छोटा-सा प्रयोग बताया कि बेटा! तुम्हें जब गुस्सा आने लगे, तब थोड़ी देर मुंह में गुड़ डाल लिया करो और उसे मुंह में ही रखा करो। जब तक मुंह में गुड़ रहेगा, वह

बोल नहीं पाएगा। थोड़ी देर आदमी नहीं बोलेगा तो स्थिति कुछ बदल जाएगी। इस बात को यों भी बताया गया कि गुस्सा आने लगे तब दस-पन्द्रह मिनट का मौन कर लेना चाहिए। उससे भी गुस्सा शांत हो जाता है। बोलने से जो नुकसान होने वाला था, उससे बचा जा सकता है। दीर्घश्वास और ज्योतिकेन्द्र प्रेक्षा का प्रयोग भी बताया जाता है। जब आदमी को लगे कि अब मुझे गुस्सा आ रहा है, यहां गुस्से का निमित्त पैदा हो रहा है। तब आदमी उस स्थान को छोड़कर अन्यत्र चला जाता है तो गुस्से का जो निमित्त है, वह हट जाता है, फिर गुस्से को आगे बढ़ने का मौका नहीं मिलता और गुस्सा शांत हो सकता है। बच्चों को यह सीखना आवश्यक है कि अपने क्रोध पर कैसे नियंत्रण कर सकते हैं। घर में, विद्यालय में भी इस गुस्से के कारण समस्याएं पैदा होती हैं। परिवार के लोग भी कई बार अपने बच्चों के आवेश से, आक्रोश से, गुस्से से परेशान हो जाते हैं। अगर गुस्सा शांत हो गया तो मानना चाहिए कि हमने जीवन में एक अच्छी सफलता प्राप्त कर ली। संस्कृत भाषा में कहा गया—'क्षमावीरस्य भूषणम्।' क्षमा करना वीर का आभूषण होता है। दूसरों को क्षमादान देना चाहिए। हमारा किसी ने नुकसान भी कर दिया, हम उसे माफ कर दें। क्षमा कर दें। क्षमा करना बड़प्पन होता है। शक्ति होते हुए भी गुस्सा न करना बड़ी बात होती है। एक आदमी बोल नहीं सकता, वह न बोले तो कोई बड़ी बात नहीं। लेकिन एक व्यक्ति जो बोल सकता है, वह न बोले तो खास बात है। मार सकता है, वह न मारे तो खास बात है। जो व्यक्ति लड़ाई कर सकता है, दो की चार सुना सकता है, ईंट का जवाब पत्थर से दे सकता है, वह क्षमा करे तो बड़ी बात है। ईंट का जवाब पत्थर से भी दिया जा सकता है तो ईंट का जवाब फूलों से भी दिया जा सकता है। जब देश की रक्षा करने की बात आए, देश पर कोई आक्रमण कर दे, तब सेना में जोश जागता है और वह ईंट का जवाब पत्थर से देती है। सामान्यतया हम अपने व्यवहार में ईंट का जवाब फूलों से देना सीखें, यह हमारा बड़प्पन होगा। यह हमारी क्षमाशीलता होगी।

कई बार आदमी नाराज हो जाता है, नाराज होना भी गुस्सा है। संस्कृत साहित्य में बताया गया कि नाराज आदमी के छह लक्षण होते हैं—

अचक्षुदानं कृतपूर्वनाशनं, विमाननं दुश्चरिताय कीर्तनम्।
कथाप्रसंगो न च नामविस्मयो, विरक्तभावस्य जनस्य लक्षणम्।।

१. जिससे जो नाराज है, उसकी ओर वह आंख उठाकर देखने का भी प्रयास नहीं करेगा। मुंह उधर कर लेगा।

२. जिसने पहले उपकार भी किया है, किन्तु मन में नाराजगी आने पर उसे भी वह भूल जाएगा।

३. जिससे नाराज है उसकी अवहेलना, अवमानना करेगा, सम्मान नहीं करेगा।

४. जिस व्यक्ति से वह नाराज है, उस व्यक्ति के दुश्चरित्र को, कमियों को उजागर करने का प्रयास करेगा।

५. नाराज आदमी प्रेम से बातें नहीं करेगा।

६. जिससे नाराज है उस व्यक्ति के गुणों की बात सामने आए, कोई उसकी प्रशंसा भी कर दे तो नाराज आदमी के मन में हर्ष पैदा नहीं होता, वह वहां भी उदास बना रहता है।

आदमी को झटपट किसी से नाराज नहीं होना चाहिए। नाराज होना एक कमजोरी होती है। किसी ने कुछ कह भी दिया तो उससे नाराज न होकर प्रसन्न रहने का प्रयास करना चाहिए। आदमी अपने गुस्से पर नियंत्रण करने का अभ्यास करे। अभ्यास से व्यक्ति को सफलता मिल सकती है।

जिस प्रकार धम्मपदकार ने आते हुए गुस्से पर नियंत्रण करने वाले को सारथी कहा है, उसी प्रकार उत्तराध्ययन सूत्र में भी इन्द्रिय और मन को नियंत्रण में रखने का निर्देश देते हुए कहा है–

अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दन्तो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य।।१/१५।।

आत्मा का ही दमन करना चाहिए, क्योंकि आत्मा ही दुर्दम है। दमित आत्मा ही इहलोक और परलोक में सुखी होता है।

यहां आत्मा का अर्थ इन्द्रिय और मन है। इसलिए आत्मा का दमन करने

का मतलब है इन्द्रिय और मन का निग्रह करना। जैसे लगाम को खींचकर अश्व को नियंत्रित किया जाता है, वैसे ही इन्द्रिय और मन रूपी अश्व को नियंत्रण में रखना आत्म-दमन है।

जो व्यक्ति आत्मा का संयम कर लेता है, वह इहलोक और परलोक में भी सुखी रहता है। इसलिए सुख और आत्मशान्ति को पाना है तो आदमी को आत्मा का संयम करना चाहिए। जिस व्यक्ति में संयम की चेतना जाग जाती है, अहिंसा का भाव जाग जाता है, पर-कल्याण की भावना जाग जागती है, झूठ-कपट आदि से बचे रहने की भावना जाग जाती है इसका मतलब है उस व्यक्ति ने आत्म-संयम को कुछ साधा है।

आत्म-संयम की साधना करने वाला व्यक्ति शोकमुक्त बन जाता है, विप्रमुक्त बन जाता है, सब ग्रन्थियों से रहित हो जाता है। वह व्यक्ति दुनिया में दुःखी नहीं होता, कष्ट नहीं झेलता, उसकी शान्ति चिरस्थायी हो जाती है।

२९

निर्मल कैसे बनें

बौद्ध साहित्य के महान् ग्रन्थ धम्मपद में कहा गया है–

असज्झायमला मन्ता अनुट्ठाननमला धरा।
मलं वण्णस्स कोसज्जं पमादो रक्खतो मलं।।१८/७।।

पाठ न करना मंत्रों का मैल है, मरम्मत न करना घर का मैल है, आलस्य सौन्दर्य का मैल है, असावधानी पहरेदार का मैल है।

चार प्रकार के मल बताए गए हैं। मंत्र का मल है अस्वाध्याय। कोई आदमी मंत्र का प्रयोग करना चाहे, तो उसके लिए मंत्र का पाठ करना आवश्यक है। मंत्र का पाठ यथाविधि होता रहे, तो मंत्र की स्मृति भी ठीक रह सकेगी और मंत्र का अपना काम भी ठीक हो सकेगा। मंत्र को पुनरावृत्त ही न करें, याद ही न करें, दोहराएं ही नहीं, तो मंत्र मैलयुक्त हो जाएगा यानी मंत्र हमारे काम का नहीं रहेगा। हर अक्षर को मंत्र माना गया है। संस्कृत में कहा गया है–

अमंत्रमक्षरं नास्ति नास्ति मूलमनौषधम्।
अयोग्यः पुरुषो नास्ति, योजकस्तत्र दुर्लभः।।

ऐसा कोई अक्षर नहीं है, जिसमें मंत्र बनने की अर्हता न हो। ऐसा कोई मूल या जड़ नहीं है, जो दवाई न बन सके। सामान्यतया ऐसा कोई पुरुष नहीं है, जिसमें कोई भी योग्यता न हो। किन्तु योजित करने वाला आदमी दुर्लभ है।

कौनसे अक्षरों को मिलाने से कौनसा मंत्र बन जाएगा, इस ज्ञान वाला व्यक्ति मिलना कठिन है। किस जड़ी को किस प्रकार योजित करने से कौनसे

रोग में काम करेगी, रोगोपचार करेगी, इस ज्ञान वाला व्यक्ति दुर्लभ हो सकता है। किस आदमी को कहां नियोजित करने से वह काम करेगा, इस अनुभव या ज्ञान वाला व्यक्ति मिलना मुश्किल है। किस व्यक्ति से क्या काम लेना, यह ज्ञान या कला नेता में होनी चाहिए। यह कला हो तो समस्या पैदा करने वाले से भी कभी-कभी काम लिया जा सकता है। उसको इस तरह मनोवैज्ञानिक तरीके से राजी किया जाए कि वह अपनी चंचलता को कम कर दे और काम करने में लग जाए।

धम्मपदकार ने कहा कि मंत्र का पाठ होना चाहिए और उच्चारण शुद्ध करने का प्रयास करना चाहिए। कई बार संस्कृत या प्राकृत भाषा का ज्ञान न होने से उच्चारण अशुद्ध हो जाता है। जैसे नमस्कार महामंत्र का पांचवां पद है—णमो लोए सव्वसाहूणं। कई लोग 'साहुणं' यानी ह्रस्व उच्चारण कर देते हैं, जबकि दीर्घ उच्चारण होना चाहिए। इसी तरह संस्कृत के अनेक स्तोत्र हैं, उनका उच्चारण भी सही करने का प्रयास करना चाहिए और सही उच्चारण करने के लिए उच्चारण शुद्धि के ज्ञाता व्यक्तियों से उच्चारण सीखना चाहिए। गुरुदेव तुलसी उच्चारण पर ध्यान दिया करते थे। उन्होंने मेरी अनेक अशुद्धियां निकालीं।

दूसरी बात बताई कि घर की मरम्मत न की जाए तो घर भी समस्यावान बन सकता है। बड़े-बड़े भवन या मकान बनते हैं, उनकी मरम्मत समय पर न की जाए तो मकान पर एक प्रकार का मैल जमा हो जाता है। मकान का रूप भी थोड़ा विकृत-सा हो जाता है और शायद वह मकान कभी खतरा भी पैदा कर सकता है। अतः मकान के लिए आवश्यक है समय-समय पर उसकी मरम्मत का ध्यान रखा जाए।

तीसरी बात बताई कि आलस्य सौन्दर्य का मैल है। एक आदमी सुन्दर है परन्तु वह न कभी स्नान करता है, न कभी सफाई करता है, शरीर पर मैल चढ़ता जाता है, यह जो आलस्य है, वह सौन्दर्य का मैल है। आदमी को करणीय कार्य में आलस्य नहीं करना चाहिए, अच्छे कार्य में आलस्य नहीं करना चाहिए। अगर विद्यार्थी में आलस्य है तो ज्ञान के विकास में बाधा पैदा

हो जाती है। इसलिए आलस्य को छोड़कर परिश्रम को अपना बन्धु बनाना चाहिए।

चौथी बात बताई कि पहरेदार का मल प्रमाद है। पहरा देने वाला व्यक्ति नींद लेने लग जाए तो वह क्या पहरा देगा? कोई अंगरक्षक या पहरेदार है, उसको तो अधिक सावधान रहने की आवश्यकता होती है। धम्मपदकार ने आगे बताया कि स्त्री का मल दुराचार है। दानी का मैल कंजूसी है। पाप इस लोक और परलोक दोनों का मैल है और उससे भी बढ़कर अविद्या परम मल है।

जैन वाङ्मय के उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया—

जावंतऽविज्जापुरिसा, सव्वे ते दुक्खसंभवा।
लुप्पंति बहुसो मूढा, संसारंमि अणंतए।।६/१।।

जितने अविद्यावान पुरुष हैं, वे सब दुःख को उत्पन्न करने वाले हैं। वे दिग्मूढ़ की भांति मूढ़ बने हुए इस अनन्त संसार में बार-बार लुप्त होते हैं।

अविद्या शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं—अज्ञान, आध्यात्मिक अज्ञान, तत्त्वज्ञान का अभाव, मिथ्यादर्शन आदि। अविद्यावान पुरुष किस प्रकार दुःख को उत्पन्न करने वाला होता है। एक कथानक के माध्यम से समझाया गया है। एक आलसी व्यक्ति गरीबी से प्रताड़ित होकर घर से धन कमाने निकला, वह अनेक नगरों व गांवों में गया। उसे कहीं कुछ नहीं मिला। आखिर उसने घर की ओर प्रस्थान किया। रास्ते में वह एक देव मंदिर में ठहरा। वह गांव चांडालों का था। रात में उसने देखा, एक चांडाल मन्दिर में आया है। उसके हाथ में एक विचित्र घड़ा है। उसने घड़े को एक ओर रखा और कहा—मेरे लिए घर, शय्या, स्त्री की व्यवस्था करो। देखते ही देखते वहां सारी व्यवस्था हो गई। उस चांडाल ने स्त्री के साथ भोग भोगा। प्रभात होते-होते उसने विद्या का साहरण किया और सब कुछ पूर्ववत् हो गया।

उस आलसी का मन ललचाया। उसने सोचा, व्यर्थ ही परिभ्रमण से क्या? मैं इस चांडाल की सेवा कर घड़े को प्राप्त कर लूं तो सब कुछ हो जाएगा। वह उस चांडाल की सेवा करने लगा। कुछ दिन बीते। एक दिन

चांडाल ने पूछा—तू क्या चाहता है? वह बोला—आप जैसा जीवन जी रहे हैं, मैं भी वैसा ही जीवन जीना चाहता हूं। चांडाल बोला—घड़ा लोगे या विद्या? उसने सोचा, विद्या साधने का कष्ट कौन करेगा। उसने कहा—घड़ा दे दो। उसे घड़ा मिल गया। वह घर पहुंचा। घड़े के प्रभाव से उसे सारी सामग्री मिली। एक दिन वह मद्यपान कर घड़े को कंधे पर रखकर नाचने लगा। घड़ा जमीन पर गिरा और फूट गया। साथ ही साथ विद्या के प्रभाव से होने वाली सारी लीला समाप्त हो गई। अब वह सोचने लगा। यदि मैं उस चांडाल से घड़ा न लेकर विद्या लेता तो कितना अच्छा होता। वह पुनः दरिद्रता के दुःख से घिर गया।

दुनिया में अज्ञान को बड़ा पाप या कष्ट माना गया है। आदमी धर्म ग्रन्थों का, शास्त्रों का अध्ययन करता है, जिससे अज्ञान रूपी मल दूर हो जाता है। जैसे अग्नि से धातु का मल शोधित कर दिया जाता है, उसी प्रकार साधना के द्वारा आत्मा का मल भी पृथक् कर दिया जाता है। मल पृथक् होने से आत्मा निर्मल बन जाती है। निर्मल यानी 'निर्गतं मलं यस्मात्'—जहां से मल चला गया, वह निर्मल हो गया। आदमी सभी मलों को त्यागकर निर्मल बनने का प्रयास करे।

आचार्य महाश्रमण : एक परिचय

आचार्य महाश्रमण उन महान संत-विचारकों में से एक हैं जिन्होंने आत्मा के दर्शन को न केवल व्याख्यायित किया है, अपितु उसे जीया भी है। वे जन्मजात प्रतिभा के धनी, सूक्ष्मद्रष्टा, प्रौढ़ चिंतक एवं कठोर पुरुषार्थी हैं। उनकी प्रज्ञा निर्मल एवं प्रशासनिक सूझबूझ बेजोड़ है। एक विशुद्ध पवित्र आत्मा जिनके कार्यों में करुणा, परोपकारिता एवं मानवता के दर्शन होते हैं तथा जिनकी विनम्रता, सरलता, साधना एवं ज्ञान की प्रौढ़ता भारतीय ऋषि परम्परा की संवाहक दृष्टिगोचर होती है।

१३ मई, १९६२ को राजस्थान के एक कस्बे सरदारशहर में जन्मे एवं ५ मई, १९७४ को दीक्षित हुए आचार्य महाश्रमण अणुव्रत आंदोलन के प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी एवं आचार्यश्री महाप्रज्ञ की परम्परा में तेरापंथ धर्मसंघ के ११वें आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हैं।

अध्यात्म, दर्शन, संस्कृति और मानवीय चरित्र के उत्थान के लिए समर्पित आचार्य महाश्रमण आर्षवाणी के साथ अध्यात्म एवं नैतिकता, अनुकंपा और परोपकार, शांति और सौहार्द जैसे मानवीय मूल्यों एवं विषयों के प्रखर वक्ता हैं।

वे एक साहित्यकार, परिव्राजक, समाज सुधारक एवं अहिंसा के व्याख्याकार हैं। आचार्य महाप्रज्ञ के साथ अहिंसा यात्रा के अनन्तर आपने लाखों ग्रामवासियों एवं श्रद्धालुओं को नैतिक मूल्यों के विकास, साम्प्रदायिक सौहार्द, मानवीय एकता एवं अहिंसक चेतना के जागरण के लिए अभिप्रेरित किया।

'चरैवेति-चरैवेति' इस सूक्त को धारणकर वे लाखों-लाखों लोगों को नैतिक जीवन जीने एवं अहिंसात्मक जीवनशैली की प्रेरणा देने के लिए पदयात्राएं कर रहे हैं।

अत्यन्त विनयशील आचार्य महाश्रमण अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान, जीवन विज्ञान एवं अहिंसा प्रशिक्षण जैसे मानवोपयोगी आयामों के लिए कार्य कर तनाव, अशांति तथा हिंसा से आक्रांत विश्व को शांति एवं संयमपूर्ण जीवन का संदेश दे रहे हैं।

शांत एवं मृदु व्यवहार से संवृत्त, आकांक्षा–स्पृहा से विरक्त एवं जनकल्याण के लिए समर्पित युवा मनीषी आचार्य महाश्रमण भारतीय संत परम्परा के गौरव पुरुष हैं।

आचार्यश्री महाश्रमण की प्रमुख कृतियां

आओ हम जीना सीखें

जीता हर कोई है, किन्तु कलापूर्ण जीना कोई-कोई जानता है। प्रस्तुत पुस्तक में आचार्यश्री महाश्रमण ने कलात्मक जीवन के सूत्रों को प्रकाशित करते हुए जीवन की प्रत्येक क्रिया का व्यवस्थित प्रशिक्षण दिया है। वस्तुतः यह कृति 'कैसे जीएं' इस प्रश्न का सटीक समाधान है।

क्या कहता है जैन वाङ्मय

इस पुस्तक में जैन शास्त्रों में उपलब्ध सफलता के सूत्रों में से चुनिंदा मोतियों को पिरोया गया है। प्रस्तुत कृति आचार्यश्री महाश्रमण के हृदयस्पर्शी प्रवचनों का महत्त्वपूर्ण संग्रह है।

दुःख मुक्ति का मार्ग

आचार्यश्री महाश्रमण ने इस पुस्तक में साधना के रहस्यों को प्रस्तुत किया है। सुख, शांति और आनंद की प्राप्ति में यह कृति मार्गदर्शक की भूमिका अदा करती है।

संवाद भगवान से

प्रतिष्ठित जैनागम उत्तराध्ययन के २९वें अध्ययन पर आधारित इस पुस्तक में भगवान महावीर और उनके प्रमुख शिष्य गौतम के रोचक संवाद के माध्यम से मन में संशय पैदा करने वाले प्रश्नों को विस्तृत रूप में समाहित किया गया है। यह कृति दो भागों में उपलब्ध है।

महात्मा महाप्रज्ञ

युगप्रधान आचार्यश्री महाप्रज्ञ तेरापंथ के आचार्य, अनुशास्ता, साहित्यकार और प्रवचनकार थे। इन सबसे पहले वे एक सन्त थे, महात्मा थे, उनकी आत्मा में महानता थी। उनके उत्तराधिकारी आचार्यश्री महाश्रमण ने उन्हें नजदीकी से देखा और जाना। प्रस्तुत पुस्तक में श्री महाप्रज्ञ के नौ दशकों के इतिहास और रहस्यों को उजागर किया गया है।

रोज की एक सलाह

लघु आकार में प्रस्तुत यह पुस्तक 'गागर में सागर' उक्ति को चरितार्थ करती है। आचार्य महाश्रमण द्वारा सूक्तियों में दी गई 'रोज की एक सलाह' हर व्यक्ति के लिए प्रतिदिन की पर्याप्त खुराक है। सदा साथ रखी जा सकने वाली यह कृति न केवल सफलता की प्राप्ति में सहायक है, अपितु व्यक्तिगत समस्याओं के समाधान में भी इसकी उपयोगिता असंदिग्ध है।

१. सुखी बनो २. सम्पन्न बनो ३. विजयी बनो

आचार्य महाश्रमण ने प्रस्तुत तीनों पुस्तकों में श्रीमद्भगवद्गीता और उत्तराध्ययन की तुलनात्मक विवेचना करते हुए साधक का सुन्दर पथदर्शन किया है। तीन भागों में उपलब्ध यह ग्रन्थमाला जहां दो महनीय ग्रन्थों को युगीन रूप में प्रस्तुति देती है, वहीं अध्यात्मरसिकों के लिए पोषक का कार्य भी करती है।

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं

आचार्यश्री महाश्रमण की प्रस्तुत पुस्तक में जैन तत्त्वज्ञान, साधना के प्रयोगों, महापुरुषों और उनके अवदानों आदि विविध विषयों से संबद्ध उपयोगी और प्रेरणास्पद सामग्री संजोई गई है।

शिलान्यास धर्म का

धर्म का आदि बिन्दु है - सम्यक्त्व। आचार्य महाश्रमण की प्रस्तुत कृति सम्यक्त्व, उसके लक्षण, दूषण, भूषण तथा देव, गुरु, धर्म आदि विषयों पर आधारित प्रवचनों और प्रश्नोत्तरों का संग्रह है। जैन अनुयायियों की आस्था के दृढ़ीकरण में यह कृति सहायक की भूमिका अदा करती है।

● प्राप्ति स्थान ●

जैन विश्व भारती

पोस्ट : लाडनूं-३४१३०६, जिला : नागौर (राज.)

फोन नं. : (०१५८१) २२६०८०/२२४६७१

ई-मेल : jainvishvabharati@yahoo.com

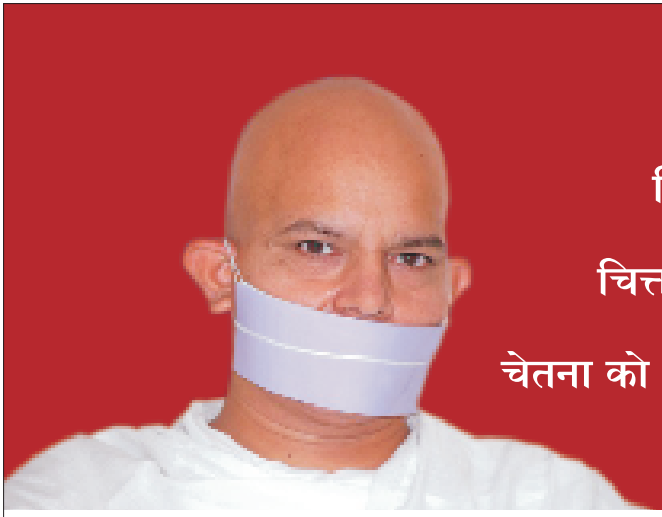

जिनका चिन्तन
चित्त को प्रसन्नता और
चेतना को पवित्रता प्रदान करता है।

अध्यात्म साधना का अंतिम लक्ष्य है– निर्वाण। निर्वाण ही परमसुख है। भगवान महावीर और गौतम बुद्ध ने वर्षों तक साधना कर निर्वाण के रहस्यों को प्राप्त किया और जनता को दिखाया– परमसुख का पथ।

आचार्यश्री महाश्रमण एक ऐसे प्रवचनकार हैं, जिन्हें पंथ और ग्रन्थ की सीमाएं बांध नहीं सकतीं। आप जैनाचार्य हैं, किन्तु आपने जैन आगमों के साथ श्रीमद्भगवद्गीता और धम्मपद पर भी सैंकड़ों प्रवचन किए हैं।

जैनागम उत्तराध्ययन और बौद्धग्रन्थ धम्मपद पर आधारित आचार्यश्री की प्रलंब प्रवचनमाला के चुनिंदा मोतियों से निर्मित प्रस्तुत ग्रन्थ को पढ़कर अध्यात्मरसिक व्यक्ति परमसुख का पथ प्राप्त कर सकता है।

9 788171 951673

Order/ Read Book Online on http://books.jvbharati.org

₹ 80